श्रीकृष्ण-सन्देश
वर्ष ७ : अंक ५

परम पूज्य महामना मालवीयजीके प्रति

१

किसी सन्तने तुम्हें पुकारा था भूपरसे,
उतरे कोई दिव्य-ज्योति तुम थे ऊपरसे।
सुकृत - कथा तव गाँव - गाँवमें डगर-डगरमें,
भरद्वाज तुम भरद्वाजके पुण्य-नगरमें ॥

२

भव्य विश्वविद्यालय उज्ज्वल कीर्ति तुम्हारी,
विश्वनाथ - आवास पुण्यमय मूर्ति तुम्हारी।
यश - गाथा तव अजर - अमर नूतन अविनाशी,
नयी बसा दी तुमने गङ्गातटपर काशी ॥

३

धर्म, समाज, देश - उन्नतिके तुम साधक थे,
शिक्षा - सरस्वतीके अनुपम आराधक थे।
हिन्दू हिन्दी हिन्द - देशके संरक्षक थे,
विघ्नराज - से विघ्न - समूहोंके भक्षक थे ॥

४

बापूने भी किया सदा सम्मान तुम्हारा,
तुम्हें अखिल भारत था प्राणोंसे भी प्यारा।
नहीं मालवाके केवल तुम मालवीय थे
भारतके घट - घटवासी तुम भारतीय थे ॥

५

धर्म सनातन ब्राह्मण - संस्कृतिके थे धारक
कृष्ण - जन्म - भूतलके पुण्यात्मा उद्धारक।
था जादू - सा असर तुम्हारे संभाषण में
पत्थर भी सुन जिसे पिघल जाता था क्षणमें ॥

६

यों तो बहुत धरापर गुरु या चेले आये,
अपने तुल्य महत्तम तुम्हीं अकेले आये।
देव ! तुम्हारे चरणोंमें अभिनन्दन मेरा
ग्रहण करो सादर महर्षि ! यह वन्दन मेरा ॥

—'राम'

श्रीकृष्ण-सन्देश

धर्म, अध्यात्म, साहित्य एवं संस्कृति-प्रधान मासिक

प्रवर्तक

ब्रह्मलीन श्री जुगलकिशोर बिरला

अवैतनिक

● सम्पादक-मण्डल

आचार्य सीताराम चतुर्वेदी

डा० विद्यानिवास मिश्र

विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

डॉ० भगवान् सहाय पचौरी

● सम्पादक

पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

गोविन्द नरहरि वैजापुरकर

संख्या ●

वर्ष : ७, अङ्क : ५

दिसम्बर, १९७१

श्रीकृष्ण-संवत् : ५१९७

शुल्क ●

वार्षिक : ७ रु०

आजीवन : १५१ रु०

प्रबन्ध-सम्पादक

देवधर शर्मा

प्रकाशक :

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

'श्रीकृष्ण-सन्देश'के उद्देश्य तथा नियम

●

उद्देश्य : धर्म, अध्यात्म, भक्ति, साहित्य एवं संस्कृति-सम्बन्धी लेखों द्वारा जनताको सुपथपर चलनेकी प्रेरणा देना और जनमानसमें सदाचार, सद्विचार, राष्ट्रप्रेम, आस्तिक्य, समाजसेवा, सर्वाङ्गीण समुन्नति तथा युगके अनुरूप कर्तव्यबोध जाग्रत् करना 'श्रीकृष्ण-सन्देश' का शुभ उद्देश्य है।

• नियम : उद्देश्यमें कथित विषयोंसे संबद्ध श्रुति, स्मृति, पुराण आदिके अविरुद्ध तथा आक्षेपरहित एवं लोककल्याणमें सहायक लेख ही इस पत्रिकामें प्रकाशित होते हैं। लेखोंमें काट-छाँट, परिवर्तन-परिवर्धन आदि करने अथवा उन्हें न छापनेका संपूर्ण अधिकार सम्पादकका है। अस्वीकृत लेख बिना माँगे नहीं लौटाये जाते। वापसीके लिए टिकट भेजना अनिवार्य है। लेखमें प्रकाशित विचारके लिए लेखक ही उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

लेखक उद्देश्यमें निर्दिष्ट विषयपर ही उत्तम विचारपूर्ण लेख भेजें। लेख स्वच्छ और सुपाठ्य अक्षरोंमें कागजके एक ही पृष्ठपर बायें हाशिया छोड़कर लिखा होना चाहिए। लेखका कलेवर अधिक बड़ा न रहे। सामग्री सुन्दर, सामयिक तथा प्रेरणाप्रद हो। लेख 'सम्पादक' 'श्रीकृष्ण-सन्देश' रू० नं० ६, केलगढ़ कालोनी, जगतगंज, वाराणसीके पतेपर भेजें।

• 'श्रीकृष्ण-सन्देश' अगस्त माससे प्रारम्भ होकर प्रत्येक मासकी पहली तारीखको प्रकाशित होता है, इसका वार्षिक मूल्य ७) है। जो लोग एक सौ इक्यावन रुपये एक साथ एकबार जमा कर देते हैं, वे इसके आजीवन ग्राहक माने जाते हैं। उन्हें उसी चंदेमें उनके जीवनभर 'श्रीकृष्ण-सन्देश' मिलता रहेगा।

ग्राहकको अपना नाम पता सुस्पष्ट लिखना चाहिए। ७) चंदा मनि-आर्डर द्वारा अग्रिम भेजकर ग्राहक बनना चाहिए। वी० पी० द्वारा अंक जानेमें अनावश्यक विलम्ब तथा व्यय होता है।

• विज्ञापन : इसमें उत्तमोत्तम समाजोपयोगी वस्तुओंका ही विज्ञापन दिया जाता है। अश्लील, जादू-टोने आदि तथा मादक द्रव्योंके विज्ञापन नहीं छपते। विज्ञापन पूरे पृष्ठपर छपनेके लिए ५००) रुपये तथा आधे पृष्ठपर छपनेके लिए ३००) रुपये भेजना अनिवार्य है।

पत्र-व्यवहारका पता।

व्यवस्थापक—'श्रीकृष्ण-सन्देश'

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ

मथुरा

अनुक्रम

इसके अतिरिक्त स्फुट

●

मासिक व्रत, पर्व एवं महोत्सव

[संवत् २०२८ मार्गशीर्ष पौष शुक्ल प्रतिपद् १८ दिसम्बर '७१ से माघ कृष्ण अमावास्या रविवार, १६ जनवरी १९७२ तक]

दिसम्बर : १९७१ ई०

तिथि	वार	दिनाङ्क	व्रत-पर्व
२१	मंगल		विनायकी गणेशचतुर्थी व्रत ।
२५	शनि		बड़ा दिन, क्रिसमस डे ।
२८	मंगल		पुत्रदा एकादशी व्रत, सबके लिए ।
२९	बुध		प्रदोष-व्रत ।
३१	शुक्र		पूर्णिमा व्रत, माघस्नानारम्भ ।

जनवरी : १९७२ ई०

तिथि	वार	दिनाङ्क	व्रत-पर्व
१	शनि		अंग्रेजी (खिृष्ट) वर्षारम्भ ।
४	मंगल		अङ्गारकी संकष्टी गणेशचतुर्थी व्रत ।
१२	बुध		षट्तिला एकादशी व्रत, सबके लिए ।
१३	गुरु		प्रदोष-व्रत ।
१४	शुक्र		मासशिवरात्रि-व्रत ।
१५	शनि		मकर संक्रान्ति (पुण्यकाल : सूर्योदयसे मध्याह्न तक)
१६	रवि		मौनी अमावास्या ।
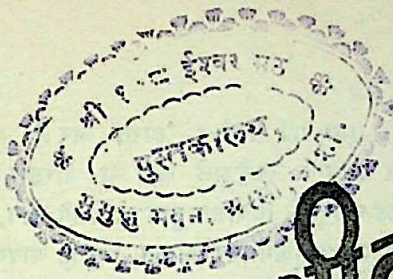
●

वर्ष : ७] मथुरा, दिसम्बर १९७१ [अङ्क : ५

धर्मयुद्ध अवश्य कर्तव्य

भारत ! तुम्हारे समक्ष धर्मयुद्धका अवसर उपस्थित है; किसी भी शूरवीर तथा राष्ट्रभक्तके लिए इससे बढ़कर कल्याणकारी कर्म दूसरा नहीं हो सकता। अकस्मात् अपने आप स्वर्गका दरवाजा खुल गया है। जो सुखी हैं, सौभाग्यशाली हैं; ऐसे शूर-वीरोंको ही यह धर्मयुद्ध प्राप्त होता है। जो धर्मयुद्धसे मुँह मोड़ते हैं, किसी भी कारणका बहाना लेकर इस युद्धसे पीछे हटते हैं, वे कायर हैं, नपुंसक हैं। उनका हृदय ओछी दुर्बलताका शिकार हो गया है, यह मानना पड़ेगा। जो इस धर्मयुद्धका स्वागत नहीं करते, इसे महान् उत्सव मानकर इसमें सम्मिलित नहीं होते, वे स्वधर्मसे तो भ्रष्ट होते ही हैं, उत्तम यश और कीर्तिसे भी हाथ धो बैठते हैं। अन्ततोगत्वा वे पाप, कलङ्क एवं महान् दुःखके ही भागी होते हैं। उनके मुखपर अमिट अपयशकी कालिख पुत जाती है। इतिहास उन्हें क्षमा नहीं करता। समस्त प्राणी अनन्त कालतक उसकी अकीर्ति-कथा कहकर उसे कोसते और धिक्कारते रहते हैं। हँसते-हँसते मृत्युको वरण कर लेना अच्छा है, किन्तु अपयशकी अक्षय परम्परा स्थापित करना कदापि अच्छा नहीं है। किसी भी सम्भावित, प्रतिष्ठित वीर पुरुषके लिए अकीर्ति मृत्युसे भी बढ़कर भयंकर तथा दुःखदायिनी है।

जो लोग अहिंसा-धर्मकी आड़ लेकर दूसरोंपर दया दिखाकर या रक्तपातसे बचनेका बहाना लेकर धर्मसम्मत युद्धसे भागते हैं, पीछे हटते हैं वे अपनी दुर्बलता या कायरताका ही परिचय देते हैं। वीर पुरुष ऐसे लोगोंको संग्रामसे भयभीत होकर भागा हुआ ही मानते हैं;

उन्हें कृपालु या अहिंसक महात्मा कहकर उनकी पूजा नहीं करते। 'भारत वीर है, युद्ध-कुशल है, अजेय है, महापराक्रमी है' ऐसा कहकर शत्रुभाव रखनेवाले लोग भी भारतके प्रति अत्यन्त सम्मान प्रकट करते आये है। यदि भारत धर्मयुद्धसे विचलित हुआ तो वे ही लोग, जो समादर करते थे, भारतकी निन्दा करेंगे। भारत उनकी दृष्टिमें गिर जायगा, लघु हो जायगा। इतना ही नहीं, वे भारत और भारतीय सैनिकोंके प्रति बहुत-से न कहने योग्य कटु-वचन कहेंगे, गालियाँ देंगे। उसकी शक्ति-सामर्थ्यकी निन्दा करेंगे, इससे बढ़कर महान् दुःखकी बात और क्या हो सकती है? मरना तो एक दिन सबको है। कोई कुत्तेकी मौत मरे या सिंहकी? इसका चुनाव उसे स्वयं करना है। वीर पुरुष शूरवीरोंकी, सिंहोंकी मौत मरते हैं तो कायर कुत्तोंकी। खाटपर पड़कर रोगोंसे सड़-सड़कर मरनेकी अपेक्षा समराङ्गणमें शत्रुओंके छक्के छुड़ाते हुए राष्ट्रके सम्मान और गौरवकी रक्षाके लिए सीनेपर बाणों या गोलियोंकी चोट खाकर हँसते-हँसते प्राणोंका विसर्जन करना अधिक स्पृहणीय और अभिनन्दनीय है। ऐसे शूर-वीरकी सुयश-चन्द्रिकासे सम्पूर्ण दिशाएँ आलोकित हो उठती है। उनकी अमर यशोगाथासे इतिहासके पन्ने चमक उठते हैं। अतः भारतको युद्धके लिए दृढ निश्चय लेकर कुरुक्षेत्रके समराङ्गणमें डट जाना चाहिए।

यदि कोई व्यक्तिगत राग-द्वेषके वशीभूत होकर तुच्छ स्वार्थके लिए, अपने ही लाभके लिए लड़ता और विजय चाहता है, तो वह अहंकार, ममता और फलासक्तिके कारण पापमय युद्धका मार्ग अपनाता है। उस स्वार्थीके संग्रामको धर्मयुद्ध कदापि नहीं कहा जा सकता। किन्तु जो व्यक्तिगत स्वार्थ, हानि और जय-पराजयकी भावनासे ऊपर उठकर दूसरोंके हितके लिए, समस्त प्राणियोंके उपकारके लिए अथवा धर्म, देश या राष्ट्रकी रक्षाके लिए सहर्ष आगे बढ़कर शत्रुओंके साथ लोहा लेनेका हौसला रखता है, वह धर्मयुद्धसे पथपर अग्रसर होता है। उसे लोक-परलोक दोनोंपर विजय प्राप्त होती है।

मैं ही कालरूपसे युद्ध या तूफान बनकर संसारका संहार करता हूँ। कोई घरपर सोया हो या रण-क्षेत्रमें जूझ रहा हो, जिसका अन्तकाल आ गया है, वह कहीं बच नहीं सकता और जिसकी आयु शेष है, वह कालके गालमें प्रवेश करके भी सकुशल लौट सकता है। युद्धस्थलमें पक्ष-विपक्षकी ओरसे जूझनेवालोंको कोई मारे या न मारे, वे मेरे हाथों अवश्य मरते हैं, मारे गये हैं! कोई चाहे तो निमित्त बनकर नाम कमा ले, यश लूट ले, अन्यथा जो होना है, वह होकर ही रहेगा। जो किसीको दृष्टिमें आज मर रहे हैं, वे मुझ कालके हाथोंसे पहले ही मार दिये गये हैं। अतः वीर भारत! निमित्त बनो, कीर्ति कमाओ। कालके हाथों मारे गये लोगोंको ही सोत्साह मारकर वीर-पुङ्गवोंकी श्रेणीमें नाम अङ्कित करा लो। निर्भय होकर धर्म-युद्धमें कूद पड़ो, तुम शत्रुपर विजय पाकर रहोगे।

●
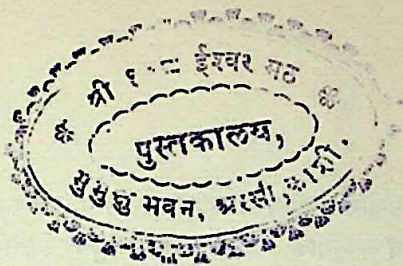
अवधूत-शिरोमणि श्री दत्तात्रेय

श्री गोविन्द नरहरि वैजापुरकर

एम० ए०, न्याय-वेदान्त-साहित्याचार्य

भगवान्‌के अनेक अवतारोंमें अवधूत-शिरोमणि भगवान् दत्तात्रेयका अवतार अनोखा है। जहाँ अन्य अवतार उस-उस जमानेकी धर्मग्लानि मिटाकर, असुरोंका संहारकर धर्म-संस्थापन और लोकस्थितिके समुचित संचालनके उद्देश्यसे हुए, वहीं श्रीदत्तका अवतार मात्र ज्ञान-दीपको जगत्‌में अखण्ड प्रदीपित रखनेके लिए माना गया है। स्पष्ट है कि जबतक जगत् है, यही नहीं आगे भी, ज्ञान-प्रकाशकी भूख कभी मिट नहीं सकती। कारण, दर्शनकी मान्यतानुसार ज्ञान चेतनाको छोड़ रह नहीं सकता और चेतनाविहीन जड़ स्वयंमें सर्वथा परावलम्बी हुआ करता है, जो परावलम्बिता जीवनका कोढ़ है। इसीलिए तत्तत्-कालीन धर्मग्लानि मिट जानेपर जैसे उस-उस अवतारका अवतार-कार्य पूर्णप्राय हो जाता है, वह बात दत्तात्रेय अवतारमें नहीं। यही कारण है कि शिष्टों एवं सन्तजनोंके मुँहसे अक्सर सुना जाता है कि आज भी अनेक पुण्यवानोंको यत्र-तत्र भगवान् दत्तात्रेयका साक्षात्कार होता आया है और वे भक्तोंके अकल्पित मनोरथ पूर्ण कर देते हैं।

भारतप्रसिद्ध महामनीषी योगतन्त्राचार्य पद्मभूषण महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज अपने एक लेखमें लिखते हैं कि 'श्री गुरु दत्तात्रेयका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण भारत-वर्ष है। साधु-समाजमें प्रसिद्धि है कि वे सह्य-पर्वतकी तराईमें 'रेणुकापुर' या 'मातापुर' में प्रतिदिन विश्राम करते हैं। यह उनका पीठस्थान है। ये काशीक्षेत्र वाराणसीमें प्रतिदिन गंगास्नान करने आते हैं। महालक्ष्मी-पीठ कोल्हापुरमें भिक्षा ग्रहण करते हैं। पण्ढरपुरमें चन्द्रभागाके तटपर तिलक लगाते तो गाणगापुर (भीमा-अमरजा-संगम) में योग-साधना करते हैं। इस प्रकार प्रतिदिन लीलाके मिष वे इस देशके विभिन्न स्थानोंमें संचार करते रहते हैं; फिर भी अपना सच्चा स्मरण करनेवाले भक्तोंके पास जहाँ-कहीं तत्काल पहुँच जाते हैं। इसीलिए वे 'स्मर्तृगामी' भी कहलाते हैं। इसमें किसी तरहकी कोई शंकाका कारण नहीं, क्योंकि सिद्ध-देहमें देश-कालका व्यवधान कभी गतिका बाधक नहीं होता और न मृत्यु ही उसतक फटकनेका साहस कर पाती है।

वैसे गुरु दत्तात्रेयके अवतारकी कथा पुराणोंमें सुप्रसिद्ध है। महर्षि अत्रिकी साध्वी पत्नी अनसूयाके लोकविश्रुत कठोर पातिव्रतसे महालक्ष्मी, पार्वती और सरस्वती ईर्ष्या करने

लगीं। नारदजीकी सलाहपर उन्होंने अपने-अपने पतिदेव—विष्णु, शंकर और ब्रह्माजीसे कठोर हठ पकड़ लिया कि आप लोग अनसूयाके घर साधु-वेषमें पहुँचकर उससे स्तन्यपानकी भिक्षा माँगें और इस तरह उसके सतीत्वकी कसौटी करें। त्रिया-हठसे विवश हो त्रिदेवोंने अत्रिमुनि-की अनुपस्थितिमें उनका यह हठ साकार कर दिखाया। मुनिपत्नी विस्मित हो उठी! तुरन्त ध्यान लगाकर वह ताड़ गयी त्रिदेवोंकी मायाको! अपनी प्रत्युत्पन्नमतिसे भीतर जाकर पतिका चरणोदक ले आयी और उन्हें दुधमुँहे शिशु बनानेका संकल्पकर उनपर प्रोक्षण किया। फिर एक-एककर लुभावने शिशुके स्तन्यपानकी इच्छा पूरी कर दी। त्रिदेवोंकी देवियोंके लिए लेनेके देने पड़ गये और उन्होंने आकर मुनि पत्नीसे क्षमा माँगी। साध्वीने कहा : 'तुम तीनों बालकोंको पति बनवाकर ले जाओगी तो मेरा घर तो सूना हो जायगा?' विष्णुने तीनों देवोंके अंशत्रय श्री दत्तात्रेय उन्हें पुत्ररूपमें सुलभ कर दिये। यही है, उनके जन्मकी कहानी!

दत्तात्रेय अवधूत-शिरोमणि, योगाचार्य होनेके साथ तन्त्रशास्त्रके प्रमुख आचार्य माने जाते हैं। भगवान् परशुरामने आपसे त्रिपुरसुन्दरी श्रीविद्याकी दीक्षा ग्रहण की। नाथाचार्य गोरखनाथजीने भी इनसे योगदीक्षा पायी है। भागवतमें ११.९.११ (अ०) यदु-अवधूत संवाद और दत्तात्रेयके २४ गुरुओंका बड़ा ही मार्मिक एवं रहस्यमय वर्णन है। भागवतमें (६.८.१६) इन्हें 'योगसाधनामें आनेवाले विघ्नोंके निवारक प्रभु' कहा है। उन्होंने सती मदालसाके पुत्र अलर्कको वैराग्यसम्पन्न देख योगसिद्धि, योगचर्याका उपदेश दिया। सांकृति, भक्तराज प्रह्लादको परम वैराग्य एवं सन्तोषका उपदेश दे ज्ञानमार्ग दिखाया। यर्ग, सहस्रार्जुन आदि भी इनके अनुग्रहीत बताये गये हैं। इनकी महिमा वेद, उपनिषद्, महाभारत, भागवत, हरिवंश त्रिपुरारहस्य, काथबोध, दाशरथीतन्त्र, रुद्रयामल, परशुराम-कल्पसूत्र, दत्तात्रेय कल्पादि ग्रन्थोंमें पायी जाती है।

दत्तात्रेय संन्यास-दीक्षाके अन्तिम कोटिके माने जाते हैं। संन्यासके उत्तरोत्तर विकसित छह रूप बताये गये हैं : १. कुटीचक, २. बहूदक, ३. हंस, ४. परमहंस, ५. तुरीयातीत और ६. अवधूत। सभी व्यावहारिक नियमोंका संन्यासमें त्याग होता है, फिर भी संन्यासके अपने कुछ नियम तो पालनीय हुआ ही करते हैं। किन्तु 'अवधूतस्त्वनियमः'—अवधूत नामक अन्तिम कक्षामें संन्यासीके विशेष नियमोंका भी न्यास हो जाता है। कारण 'अवधूत' शब्दसे ही उनका नित्य शुद्ध, मुक्त स्वरूप प्रकट है। अवधूतका 'अ' अक्षरपदका सूचक है, 'व' वरेण्यपद (सर्वश्रेष्ठपद) का, तो 'धू' का समस्त वासनानिर्मुक्त निर्विकल्पपद तथा 'त' 'तत्त्वमसि' महावाक्यका लक्ष्यभूत सच्चिदानन्द ब्रह्मपदका सूचक है। यही है अवधूत-शिरोमणि दत्तात्रेयका वास्तविक रूप। मार्गशीर्ष-पूर्णिमाको भारतभर इनकी जन्म-जयन्ती मनायी जाती है। हम भी उनके चरणोंमें ये श्रद्धाके सुमन बिखेरते हैं।

●
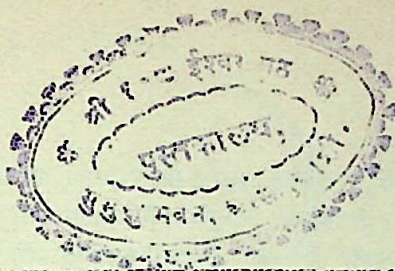
उद्धवके प्रति

(१)

सुनत न औरकी धुनत अपनी ही आप
आपको तो अगुन बखानिबेकी धुन है।
जीवन हमारो अहै नाम-गुन मोहनको
वासों कहा काम जाको नाम है न गुन है।
हम निगुनी हैं हमें सगुन सिखैहै गुन
दैहै कहा गुन जो अगम्य है अगुन है।
एक अंगहीनको जहान असगुन मानै
सब अंगहीन तौ महान असगुन है॥

(२)

नैन बिन देखै ब्रह्म, नैन हू ते दीखै नाँय
स्याम हमैं देखैं हम स्यामहिं निहारे हैं।
रूपहीन ब्रह्मको निरूपन करत आप
स्याम मनहरन अनूप रूप वारे हैं।
काम कहा वासों जाको कामना न काहूकी है
स्याम कमनीय कोटि काम-छवि धारे हैं।
अलख निरंजन सों काज कहा ऊधो हमैं
स्याम दृग कंजनके अंजन हमारे हैं॥

—'राम'

शिक्षाका अपेक्षित स्वरूप

श्री सेठ गोविन्ददास

सृष्टिमें कोई भी वस्तु पूर्णतया पूर्ण और निर्दोष तो नहीं हो सकती, परन्तु मानव हर वस्तुको निर्दोष बनानेका यत्न अवश्य करता है। यद्यपि चूँकि वह स्वयं पूर्ण नहीं है, इसलिए उसके समस्त कार्य अपूर्ण ही रहते हैं। हजारों वर्षोंके मानव-इतिहासमें कहीं भी शिक्षाकी कार्य-पद्धति सर्वथा निर्दोष और सर्वमान्य नहीं रही है, परन्तु शिक्षाकी वर्तमान पद्धति तो अत्यन्त शोचनीय और चिन्तनीय हो गयी है। सारे संसारमें कोई भी उससे सन्तुष्ट नहीं है। इसका प्रधान कारण यह है कि वर्तमान शिक्षा-पद्धतिके माध्यमसे मनुष्यको जानकारियाँ तो मिल जाती हैं, लेकिन सच्चे ज्ञानकी उपलब्धि न होनेसे स्वयं मानवका निर्माण यह शिक्षा नहीं कर पाती। तथ्योंकी जानकारीसे मनुष्यका मस्तिष्क तो भर जाता है, परन्तु उसकी अन्तरात्मा खालीकी खाली बनी रहती है, न तो उसके अन्तःकरणका जागरण होता है, न उसके हृदयमें शुभ भावनाओंका अवतरण। इसे यों भी यह कह सकते हैं कि उस आहारकी भाँति जिससे भूख तो मिट जाती है, तृप्ति नहीं होती और न नया रक्त अथवा अन्य धातुओंकी शरीरमें अभिवृद्धि ही होती है। परिणाम यह होता है कि बिना रुचिके इस भोजनसे, जिसे हमारे शरीरकी प्राकृतिक प्रक्रिया स्वीकार नहीं करती, न तृप्ति होती है और न उसका परिपोष। समयके साथ उल्टे उसका ह्रास होने लगता है और अतन्तोगत्वा एक अवधि-पूर्तिके सदृश हमारा शरीर, मस्तिष्क और हृदय एक प्रवाहकी सरिताके समान सूख जाता है, समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि वर्तमान शिक्षा हमारे चरित्रको स्पर्श भी नहीं कर पाती और इससे मनुष्यके व्यक्तित्वको गढ़नेका कोई उपाय प्रतिपादित नहीं होता। यह कितना आश्चर्य-जनक और अभाग्यपूर्ण है कि शिक्षामें प्रशिक्षण द्वारा पशुको मानव बनानेका उपक्रम तो किया जाता है, किन्तु मानवको मानव बननेका नहीं। या इसे यों कहें कि पशुकी पशुता दूर करनेके प्रयत्न तो किये जा रहे हैं, जब कि मनुष्यमें अन्तर्निहित पाशविकताको उल्टा बढ़ाया जा रहा है। यही क्या, उसे मानवसे कुछ और बनानेके सभी प्रयत्न आधुनिक शिक्षामें किये जा रहे हैं।

मनुष्यको छोड़कर अन्य किसी जीवको शिक्षित नहीं किया जा सकता, क्योंकि निसर्गने जो ज्ञानशक्ति मनुष्यको दी है वह अन्य किसी प्राणीको नहीं। अन्य जीवोंको केवल प्रशिक्षण दिया जा सकता है। जैसे सर्कसके सिंह, हाथी, घोड़ा, बन्दर, बकरे और तोता-मैना आदिको।

शिक्षण और प्रशिक्षणके इस बुनियादी भेदको समझना बहुत आवश्यक है। शिक्षाका सूत्र, उसका स्रोत, उसकी झिक अन्तस्‌में है। वह एक संस्कार है, जो बीजरूपसे अंकुरित हो वृक्ष बनता है और उसमें पुष्प एवं फल फलते हैं, जब कि प्रशिक्षण मात्र अभ्यास है। यह उस पौधेकी भाँति है जो पुष्प और फलोंसे रहित रिक्त स्थानकी पूर्तिके लिए सजावटके किसी स्थल-पर क्षणिक महत्त्वके लिए रोपा जाता है। यानी शिक्षा एक प्राकृतिक संस्कार है और प्रशिक्षा एक कृत्रिम वस्तुमात्र। पहलेका सम्बन्ध अन्तस्‌से है तो दूसरेका बाहरसे। पहला प्राकृतिक है तो दूसरा कृत्रिम। एक विकासशील प्राणतत्त्व है तो दूसरा ह्रासोन्मुख निर्जीव पदार्थवत्। इस प्रकार प्रशिक्षण ऊपरसे जबरदस्ती थोपा हुआ ढाँचा है। शिक्षा ऊपरसे थोपी नहीं जाती, वरन् अन्तस्‌को जगाकर दी जाती है। जिस प्रकार पानीके हौजमें पानी ऊपरसे भरा जाता है, उसी प्रकार प्रशिक्षण ऊपरसे दिया जाता है। जब कि शिक्षण कुँएमें भरे हुए पानीकी भाँति है, जो भीतरी झिरोंसे भरता है। अंग्रेजी शब्द 'एजूकेशन'का अर्थ बड़ा महत्त्वपूर्ण है। उसका अर्थ है भीतरसे बाहर निकालना। उसका अर्थ बाहरसे भीतर डालना नहीं है, पर हम जो कुछ कर रहे हैं वह बाहरसे भीतर डालना है। इसे शिक्षा कैसे कहा जा सकता है? यह मात्र प्रशिक्षण है और यही कारण है कि जिसे हम शिक्षित होना कहते हैं और जिसे हमारे विश्वविद्यालय-तक सम्मानित करते हैं, वह जीवनकी व्यापक और बृहत् परीक्षामें असफल हो जाता है। ऐसा शिक्षित जन केवल रटा हुआ तोता होता है। उसमें स्वयं विचारकी न तो कोई ऊर्जा होती है और न जीवनको निर्देशित करनेका कोई विवेक। वह पानीकी लहरोंपर बहते हुए लकड़ीके उस लकड़ेकी भाँति होता है, जिसे लहरें जहाँ ले जाती हैं, चला जाता है।

प्रशिक्षणका शिक्षणके रूपमें इस भाँतिका प्रचलित होना तकनीकी शिक्षाके प्रति-प्रभावके कारण हुआ, क्योंकि तकनीकीका प्रशिक्षण ही हो सकता है, शिक्षण नहीं। सारा संसार चूँकि भौतिक समृद्धिके लिए लालायित है और हमारा देश तो गरीबीके कारण और अधिक। इसलिए तकनीकी ज्ञानको ही प्रमुखता मिली है। हम तकनीकी ज्ञानकी ओर उसके द्वारा होनेवाली भौतिक समृद्धिके विरुद्ध नहीं हैं। संसारके लिए और हमारे लिए वह भी आवश्यक है। किन्तु इससे जो हमारा अनिष्ट हो रहा है, उसकी दिनों-दिन बढ़ती हुई सम्भावनासे हमारे बुनियादी जीवनका जो आधार खोखला हो रहा है, उससे अब हम अधिक समयतक अपनी आँखें मूँदकर नहीं रह सकते। अपनी अयोग्यताको छिपाकर केवल अभ्यासके बलपर हम आखिर कहाँतक आगे बढ़ सकेंगे। परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके लालचमें नकलका कोई भी विद्यार्थी जीवनरूपी परीक्षामें सफल हो सकेगा, यह स्पष्टतया असम्भव है। इस प्रकार सच्ची शिक्षाके अभावमें यह प्रशिक्षण हमारे जीवनको दरिद्र और एकांगी बना रहा है। इसीके साथ इसके कुछ भयानक नतीजे भी निकल रहे हैं। तकनीकी ज्ञान भौतिक-जगत्के नियन्त्रणके लिए आवश्यक है; परन्तु जिसे मैं सच्ची शिक्षा कहता हूं, उसके द्वारा शिक्षित न होनेके कारण मनुष्य अपनेपर नियन्त्रण नहीं कर पा रहा है। स्वयंपर इस अनियन्त्रणके कारण उसका पदार्थ-ज्ञान एवं भौतिक वस्तुओंका आधिपत्य वैसा ही है, जैसा अबोध बच्चेके हाथमें तलवार देना। पिछले दो महायुद्ध इसके प्रमाण हैं और हम आज भी उसी दिशामें बढ़ रहे

हैं। हमें इन महायुद्धोंसे चेतावनी नहीं मिली। यदि मनुष्य व्यष्टि और समष्टि रूपसे सचेत नहीं होता, तो अनियन्त्रित मनुष्यके हाथमें प्रकृतिकी नियन्त्रित शक्तियाँ आत्मघातक सिद्ध होंगी। इसकी चरम परिणति समस्त मानवताके अन्तमें हो सकती है। अतः भौतिक वस्तुओं-पर नियन्त्रणके पूर्व मनुष्यका उससे कहीं अधिक स्वयंपर नियन्त्रण होना आवश्यक है। क्योंकि शक्ति केवल संयमके हाथोंमें सुरक्षित रहती है, असंयमी, अविवेकीके शक्तिशाली होनेसे भस्मासुरकी पुनरावृत्ति अवश्यम्भावी होगी।

जो शिक्षा मनुष्यके सृजनकी शिक्षा न होकर उसके संहारका कारण बनती है, उसे शिक्षा कैसे कहा जा सकता है? शिक्षाका अर्थ ही एक सद्-इच्छा है, सद्भावका प्रसार करना है। एक ऐसे ज्ञानका विस्तार शिक्षातत्त्वमें निहित है, जो व्यष्टिके माध्यमसे समष्टिके कल्याणका केन्द्र बने। तकनीकी ज्ञान शिक्षाका प्रधान अङ्ग कभी नहीं होना चाहिए, वह गौण हो रहना चाहिए। मानवीय मूल्योंकी स्थापना ही शिक्षाका केन्द्रीय तत्त्व है। तकनीकी ज्ञानसे उपार्जित वस्तुएँ जीवनयापनका साधन हो सकती हैं, साध्य नहीं। साध्य तो मनुष्य स्वयं है। इस साध्यको प्राप्तिके लिए ही शिक्षा उसका एक शस्त्र है, एक साधन है। वर्तमान शिक्षा-पद्धतिमें हुआ यह है कि जो साध्य है; वह साधन बन गया है और साधन है, वह साध्य। इस प्रकार साधनको साध्यके ऊपर रखना घातक सिद्ध हुआ है। आध्यात्मिक शिक्षा और भौतिक शिक्षाका यही एक भेद है। भौतिक शिक्षामें साधन साध्य बन जाते हैं और आध्यात्मिक शिक्षामें साधन साधन ही रहते हैं और साध्य साध्य। यदि आवश्यकता पड़े एवं कोई अन्य विकल्प शेष न रहे, तो सच्ची शिक्षा साधनोंका परित्याग कर सकती है; लेकिन साध्यका नहीं। उसकी दृष्टिमें वे हर साधन सम्यक् है, जो जीवनके चरम साध्यकी उपलब्धिमें सहयोगी है। इसके विपरीत पड़ते ही वे व्यर्थ और त्याज्य हो जाते हैं।

ऐसी शिक्षा जो हमारे श्रेयको पुष्ट करती है, विवेकको सशक्त बनाती है, जीवनमें प्राणदायी तत्त्व भरती है। हमारे लिए इष्ट हैं। यज्ञपूर्ण जीवन शिक्षाका उद्देश्य है, यज्ञ-शून्य जीवन ही अशिक्षित और असंस्कृत जीवन है। यही पशुता है। पशु तो पशु है ही, अशिक्षा मनुष्यको भी पशु बना देती है। जो जानते हैं, उन्होंने पशु उसे कहा है जो वासनाओंके पाशमें बँधा हो। मानवमें भी पशुता है, पर सच्ची शिक्षा उसे अपने ही पशुपर योग्य सवार बना देती है। शिक्षा इस पाशसे मुक्त करती है और तभी वस्तुतः सच्चे मानवका जन्म होता है। ●

सच्ची शिक्षा

शिक्षाके फलस्वरूप विवेक-प्राप्तिके साथ बालकोंको संसारकी विभिन्न वस्तुओं एवं आत्माओंमें एक सामञ्जस्यका अनुभव होना चाहिए। यही साम-ञ्जस्य सच्चा गुण है। बालकको दी गयी शिक्षा सच्ची तभी कही जा सकती है, जब कि वह घृणा करनेवाली वस्तुओंसे घृणा करे और प्यार करनेवाली वस्तुओंसे प्यार!

—प्लेटो

क्या गोपाल कृष्ण भैंस-बकरी भी चराते थे ?

श्री जगन्नाथ मुनमुनजी चतुर्वेदी

★

अभीतक व्रजेन्द्रनन्दन परब्रह्म परमात्मा पूर्णतम भगवान् श्रीकृष्ण अपने लीला-परिकर-सहित व्यापि-वैकुण्ठ गोलोकसे पधारकर व्रजभूमिमें वयस्यों (साथियों) के साथ वत्स (बछड़े और बछिया) चराते और कौमार (पाँच वर्षकी)-लीलाओं द्वारा माता श्री यशोदाजी-सहित समस्त व्रजवासियोंको आनन्द-विभोर करते रहे। किन्तु अब घनश्यामको अपनी पौगण्ड (छठे वर्षकी) लीलाओं द्वारा आनन्द देनेकी इच्छा हुई। अतएव आज अपने समग्र वयस्योंके साथ विचारकर उन्होंने ठहराव किया कि सभी घर जानेपर अपने-अपने माता-पिताओंसे गायें चरानेका आग्रह करेंगे।

ठहरावके अनुसार श्यामसुन्दर भी घर पहुँचनेपर पिताश्री नन्दराज और माता यशोदाजीसे कहने लगे : 'मैं वत्सोंके चरानेमें निपुण हो गया हूँ। अब गाय चरानेकी इच्छा जाग उठी है। कृपया अनुमति दीजिये।'

माता-पिताने उन्हें बहुत समझाया-बुझाया। लेकिन जब श्रीकृष्णका विशेष आग्रह देखा, तो उन्होंने कार्तिक सुदी अष्टमीका मुहूर्त शुधवाकर अपने लालको गाय चरानेकी अनुमति दे दी : कार्तिके शुक्लपक्षे तु बुधैर्गोपाष्टमी स्मृता।

आज्ञा मिलते ही मदनमोहनके आनन्दकी सीमा न रही। एकदम यह खबर कानों-कान व्रजके वयस्योंमें फैल गयी और सभी अपने-अपने घरोंमें गोचारणकी विशेष तैयारियाँ करने लगे।

दूसरे ही दिन भोरमें अपनी-अपनी माताओं द्वारा श्रृंगारित एवं सुसज्जित हो श्रीकृष्ण-सहित उनके सभी वयस्यगण अपने-अपने भोज्यादि पदार्थ साथमें बाँधकर गायोंके साथ पशुहितकारी श्रीवृन्दावनमें गायें चरानेके लिए प्रविष्ट हुए। वहाँ जाकर गायोंको चरनेके लिए छोड़ दिया और सभी साथी वनकी शोभा देख प्रफुल्लित हो अनेक प्रकारकी क्रीड़ाएँ करने लग गये।

श्रीमद्भागवतमें यह प्रसङ्ग दशम स्कन्ध, पूर्वार्ध, अध्याय १५ से प्रारम्भ होता है :

ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदैर्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः॥

पुनः इसी अध्यायमें—तं गोरजच्छुरित-कुन्तलबद्धबर्ह-वन्यप्रसून-रुचिरेक्षण-चारुहासम् आदिसे नन्दनन्दनका गाय चराकर व्रजमें पधारनेका वर्णन है। फिर किसी समय वे बड़े भैय्या बलदाऊजीके बिना ही वयस्योंसहित गायें चराने कालिन्दीके तटपर जाते हैं तो वहाँ गर्मीसे अत्यन्त तृषित गाय और गोप कालिन्दीका विष-दूषित जल पान कर लेते हैं। भगवान्को जब इसका पता चलता है तो वे अपनी अमृतवर्षिणी दृष्टि द्वारा उन सबको पुनः जीवित कर देते हैं, यह वर्णन है।

सोलहवें अध्यायमें भगवान् जब कालियह्रदमें कूद पड़ते हैं तो कालिय उनके श्रीअङ्गसे लिपट जाता है। उस समय गावो वृषा वत्सतर्यः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः इस वचन द्वारा गाय-बैल, बछड़ा-बछियाका ही वर्णन है। वे जब ह्रदसे बाहर पधारते हैं तब भी यही कहा गया है : गावो वृषा वत्सतरा लेभिरे परमां मुदम्।

अठारहवें अध्यायमें कहते हैं : व्रजे विक्रीडतोरेवं गोपालच्छद्ममायया।… वेणुं विरणयन् गोपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत्। अर्थात् भगवान् बलदाऊजीके साथ गोप और गोधनसे युक्त हो वेणुनाद करते हुए श्री वृन्दावनमें प्रविष्ट हो वयस्योंके साथ अनेक प्रकारकी क्रीडाएँ करने लगे। इसी बीच खेलते-खेलते प्रलम्बासुरका भी वध कर डाला।

उन्नीसवें अध्यायमें जब गोप क्रीडासक्त हो गये, तब उनकी गायें तृणके लोभसे गह्वर वनमें चली जाती हैं। यहाँतक तो भगवान्का गोचारण निःसन्दिग्ध है। किन्तु आगेका श्लोक सन्देह उत्पन्न करता है, जो इस प्रकार है :

अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो वनाद्वनम्।
इषीकाटवीं निर्विविशुः क्रन्दन्त्यो दावतर्षिताः॥

आपाततः इसका अर्थ यह होता है कि बकरी, गाय, और भैंसे एक वनसे दूसरे वनमें होती हुई इषीकाटवी (सींकके वन)में घुसीं और वहाँ दावानलसे झुलसकर रम्भाने लगीं। अन्य टीकाकार इस श्लोकपर पर्यायवाची शब्द या विशेष स्पष्ट विवरण न लिखकर ज्यों-का ज्यों ही रख देते हैं। किन्तु अध्यायार्थके प्रारम्भमें जो कारिका है, उसमें गाय, गोपोंका ही प्रतिपादन करते हैं, बकरी-भैंसोंका नहीं :

किन्तु हमारे मथुरा-वृन्दावनके पुराने कथावाचक विद्वान् इसका यौगिक अर्थ करते हैं, जिसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित श्लोकमें है :

अप्रसूता अजा प्रोक्ता गाव एकप्रसूतिकाः।
बहुप्रजा महिष्यश्च गावो लोके त्रिधा मताः॥

अर्थात् बिना बछड़ेवाली (ओसर) अजा, एकबार प्रसूत गाय और बहुत सन्तानवाली महिषी, इसप्रकार लोकमें तीन प्रकारकी गायें मानी गयी हैं। इस तरह ये विद्वान् भगवान्‌का गोचारण ही प्रमाणित करते आ रहे हैं। कुछ साम्प्रदायिक विद्वान् इन (अजा, महिषी) शब्दोंका बकरी, भैंस भी अर्थ करते पाये जाते हैं। किन्तु उनसे हमारा नम्र निवेदन है कि जब श्रीवृन्दा-वनमें गोचारणार्थ प्रवेशसे लेकर यहाँतक कहीं भी बकरी-भैंसका नामतक नहीं आया, जो पिछले उद्धरणोंसे स्पष्ट है, तब फिर यहाँ उनके चरानेकी बात तो दूर ही रही। सोचना चाहिए कि मध्यमें यह एकाएक भैंस-बकरी कहाँसे आ गयी? भगवान्‌का नाम भी 'गोपाल' ही जहाँ-तहाँ आता है, 'अजापाल' या 'महिषीपाल' कहीं नहीं। अन्य पुराणों एवं शास्त्रोंमें भी कहीं बकरी-भैंस चरानेका प्रमाण नहीं दीखता। फिर यहाँ क्या बात है? इतना तो उन्हें अवश्य सोचना चाहिए और उपर्युक्त यौगिक अर्थ ही करना चाहिए।

महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य इस श्लोकका विशेष गूढार्थ विवरण करते हैं। अजा, गाय, और महिषी शब्दोंसे वे गायकी क्रमशः राजसी, सात्त्विकी और तामसी देह लेते हैं। वे इस पूरे प्रसङ्गका निम्नलिखित प्रकारसे प्रतिपादन करते हैं।

आजके गोचारणका प्रारम्भ पञ्चदशाध्यायसे है। **वेणुं विरणयन् गोपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत्** अर्थात् श्रीकृष्ण और बलराम गोप-गोधनोंसे संवृत हो श्रीवृन्दावनमें प्रविष्ट हुए। वे बालकोंका प्रपञ्च-विस्मरण (प्रपञ्चको भुलाना) करानेके लिए सभी क्रियाओंमें स्वयं प्रविष्ट हुए और अनेक प्रकारकी क्रीडाओंसे उन्होंने समस्त लौकिक भावोंको दूरकर प्रलम्बरूप अन्तःकरणका दोष भी दूर कर दिया।

सोलहवें अध्यायमें जब सब गोप क्रीडामें आसक्त हो गये तो उनकी गायें रक्षक न होनेके कारण चरती-चरती तृणलोभसे अगम्य स्थानमें पहुँच गयीं। इसी प्रकार उपेक्षित देह भी अत्यन्त अशक्य स्थानमें प्रवेश कर जाती है।

उक्त विवादास्पद श्लोकके सन्दर्भमें महाप्रभुजी अपनी 'सुबोधिनी'में लिखते हैं: **देहानां त्रैविध्यमिव वक्तुं तस्मिन् दिवसे अजा राजस्यो गावः सात्त्विक्यो महिष्यस्तामस्यश्च**……। अर्थात् उस दिन (**तस्मिन् दिवसे**—पूर्वाध्यायमें सूचित वृन्दावन-प्रवेशके दिन) भगवान्‌के साथ राजस (अजा), सात्त्विक (गावः) और तामस (महिष्यः) त्रिविध देहवाली गायें थीं, यह इस श्लोकसे सूचित किया जाता है।

इसपर यह शंका हो सकती है कि पहले ही यह गायोंका देह-भेद क्यों नहीं बताया गया, उसका तो वहीं निरूपण कर देना था, १९वें अध्यायमें आकर क्यों? इसके उत्तरमें आचार्यश्री कहते हैं कि गोपोंका धर्म गोचारण है, अतः पहले धर्मरक्षाका निरूपण प्रमुख होनेसे राजस, तामस आदि भेदोंका निरूपण नहीं किया गया। किन्तु यहाँ समग्र दोषोंकी निवृत्ति करके 'निरोध' करना है, इसलिए यह निरूपण किया गया। श्लोकमें 'चकार' से 'अन्य भी हरिणादि, श्वानादि लीलार्थ साथमें ले लिये थे' यह अर्थ लेना चाहिए।

इस प्रकार वनसे वनान्तरमें—जहाँ देवताका सान्निद्ध न था और न रक्षा करनेवाले ही थे; ऐसे गह्वर वनमें जहाँ प्रविष्ट होकर निकलना भी कठिन हो जाता है—सब पहुँच गयीं।

ते हि वर्षवृद्धाः आसन्नमरणाः स्वयमेव म्रियमाणाः कथमन्यरक्षां कुर्युः (सुबो०)। अर्थात् वे सब वर्षभरके थे और मृत्यु समीप आ जानेसे स्वयं ही मरनेवाले थे, तब परस्परकी रक्षा कैसे कर पाते ? यहाँ भी शंका उपस्थित हो जाती है कि 'अजा' इत्यादिमें स्त्रीलिङ्ग है तो यहाँ पुल्लिङ्ग ('ते हि') कैसे ? स्वयं प्रभुचरण अपनी टिप्पणीमें इसका भी उत्तर देते हैं : ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री (पा० सू० १.२.७३) इस व्याकरणानुशासनके अनुसार 'अजा गावो' इत्यादिमें एकशेष हो जानेसे स्त्रीलिङ्गान्त प्रयोग किया गया है।

'अतरुणेषु' यह शब्द इनकी छोटी अवस्था सूचित करता है। फलतः यह भी शंका उपस्थित हो जाती है कि आज भगवान् केवल बछड़ा-बछिया चराने ले गये या बड़ी-बड़ी गायें भी साथ थीं, जैसा कि पूर्वमें गोधनैः संवृतोऽविशत् में वर्णन किया गया है। यदि बड़ी-बड़ी गायें भी साथ थीं, तो वे अपने-अपने बालकोंकी रक्षा भी कर लेतीं। अतः उक्त पंक्ति तथा पूर्व-सन्दर्भके अनुसार निश्चय होता है कि बड़ी-छोटी सभी प्रकारकी गायें साथ थीं। किन्तु इषीकाटवीमें सब अलग-अलग हो गयीं और दावानलसे तर्षित हुईं तो रम्भाने लगीं। प्रायः देखा गया है कि बछड़े जब अपनी माताओंसे अलग हो जाते हैं, तभी रम्भाने लगते हैं, साथमें रहनेपर नहीं। अन्यथा उनका केवल तर्षित होना ही सम्भव होता :

इसके बाद एवं गवां स्वतः स्वसम्बन्धाभावोऽनिष्टसम्बन्धश्च कथितः (सुबो०)। अर्थात् इस प्रकार गायोंका अपने आप ही भगवत्सम्बन्धाभाव एवं अनिष्टसम्बन्ध कहा गया। यहाँ भी गायोंका ही नाम-निर्देश किया गया है। आगे भी ते गोपाः = गोपालाः इस प्रकार सार्थक नाम-निर्देश किया गया है। जब गोपालोंके अन्वेषण करनेपर भी गायोंका पता नहीं चला, तो गायोंके खुरों एवं दाँतोंसे छिन्न तृणोंद्वारा पता लगाते हुए गोपगण आगे बढ़े। तब मुञ्जाटवीमें मार्गभ्रष्ट, रम्भाती और मुंजस्पर्शसे पीड़ित गायोंके समीप जाकर समानधर्मा गोपोंने क्षणभर विश्राम किया। अनन्तर लौटते समय वनमें दावानल लग गया। तब गायों एवं गोपोंद्वारा प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने उस अग्निका पानकर सबका दुःख दूर कर दिया। इस प्रकार अलौकिक भगवद्वीर्य देख सभी गोप नन्दनन्दनको पुरुषोत्तम या देवोत्तम मानने लगे। भगवान् भी सायंकाल वयस्यों एवं गायोंसहित व्रजमें पधारे।

इस प्रकार आरम्भसे अन्ततक गायोंका ही नाम-निर्देश आया है, अन्य किन्हीं पशुओंका नहीं। धर्म-परिपालनमें गाव एव मुख्याः अर्थात् सात्त्विक गायोंकी ही प्रशस्तता मानी गयी है। इसीलिए दान-प्रसंगमें पयस्विनीस्तरुणीः शीलरूपगुणोपपन्नाः आदि सात्त्विक लक्षणोंवाली गायोंका ही दान बताया गया है। उपनिषदोंमें भी ऋषियोंको हजारों गायें देनेका प्रतिपादन है। भारतमें प्रत्येक कर्मके पश्चात् फलप्राप्तिके लिए विद्वान् ब्राह्मणको गोदान देनेकी विधि बतलायी गयी है। तामस प्रमेय-प्रकरणीय निबन्धमें कहा है : गवां दावाग्निमोक्षेण सर्वेषां कालजैर्गुणैः। अर्थात् सब गायोंका आध्यात्मिक कालसे उत्पन्न

दुःखका निवारण किया। आसक्तिः सप्तधा तत्र रूपसौन्दर्यभावतः। क्रियया द्वितयेऽभीष्टदानेन स्त्रीगोपाला वशीकृताः यहाँ भी गायोंका ही प्रतिपादन है।

श्री गोकुलरायकृत अध्यायार्थमें कहा है : षोडशेऽध्याये दावाग्निपानजमाहात्म्य द्वारा स्वरूपसम्पादनेन गवां दृढासक्त्युत्पादनात्··· इत्यादि। अर्थात् सोलहवें अध्यायमें दावाग्नि-पानसे प्रकट भगवन्माहात्म्यद्वारा स्वस्वरूप-सम्पादन कर गायोंकी अपने प्रति दृढासक्ति करायी गयी। यहाँ भी गायोंका ही निरूपण है।

ऋग्वेद, द्वितीयाष्टकके २४वें वर्गमें कहा है : तां वा वास्तूत्युश्मसिगमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अयासः। (यत्र गोकुले भूरिश्रृङ्गाः-दीर्घश्रृङ्गाः गावः सन्तीति) इस प्रकार ऋग्वेद-श्रुतिके अनुसार भी गोकुलमें गायोंका ही रहना बताया है, भैंसों, बकरियोंका नहीं।

आगे भी 'वेणु-गीत' में गावश्च इस श्लोककी सुबोधिनीमें महाप्रभुजी लिखते हैं : उत्तमाधमयोर्मध्यमाभिलाषो निरूप्यते। अर्थात् सात्त्विक-तामसयो राजसदेहाभिलाषः। यानी सात्त्विक-तामस देहवाली गायोंने राजसदेह, भगवद्भोग्य शरीर पानेकी इच्छा की, यह कहा है। इस प्रसङ्गमें पूर्वोक्त त्रिविध देहोंका स्वारस्य लेकर ही अभिलाषा प्रकट की गयी है। अतः स्पष्ट हो गया कि श्री महाप्रभुजीने पहले देहानां त्रैविध्यमिव कहकर तीन प्रकारकी गायें ही बतायी हैं, न कि बकरी-भैंस।

श्री गोवर्धन-प्रसंगमें भी गायोंका ही नाम-निर्देश है। 'गोविन्द' शब्दके अर्थमें गवां हृदय आविर्भावे दोषाभावार्थं यतोऽयं तेषामेवेन्द्रः यह कहा गया है। श्री हरिरायकृत 'निजवार्ता-प्रसंग' में जहाँ गायोंकी घण्टाकी भावना लिखी है, वहाँ आपने भी सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकारकी गायें बतलायी हैं और कहा है कि वे ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत स्वरोंसे अपने-अपने गलेके घण्टानादद्वारा प्रभुको जगाती हैं। सम्प्रदायमें श्री हरिरायजी जैसे महानुभावका महत्त्व किसीसे छिपा नहीं है।

'अष्टसखाओंकी वाणी' में भी बकरी-गायोंका कहीं निरूपण नहीं देखा गया। प्रत्युत आगे गाय पाछे गाय, इत गाय उत गाय, गोविन्दको गायनमें बसबोई भावै यही उल्लेख मिलता है। सूरदासजी और श्रीकृष्णदासजीकी परस्पर होड़में श्रीजीनें नैंचुकी खुररेणु छुरित अलकावलि का प्रतिपादन किया है। इस तरह गायसम्बन्धी अनेक कीर्तन मिलते हैं, पर हमें अबतक बकरी चरानेका कीर्तन कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसके विपरीत व्रजके विद्वानोंके बीच प्रसिद्ध उक्त श्लोकमें किये गये तीन प्रकारकी गायोंका वर्णन (जो अजा, गावः और महिष्यः शब्दोंके अर्थ) एवं श्री महाप्रभुजीके व्याख्यान दोनोंमें पर्याप्त सामंजस्य बैठता है। अतः व्रजके विद्वानोंका वह अर्थ ही ग्राह्य ठहरता है।

अतएव इन सभी प्रमाणोंके आधापर अजा गावो···इस श्लोकमें व्रज-पण्डितोंमें प्रचलित पूर्वोक्त अर्थ ही ग्रहण करना चाहिए। उससे भगवान्का मात्र गोचारण ही सिद्ध होता है, बकरी-भैंसोंका चारण कभी प्रमाणित नहीं होता। ●

आधुनिक परिपार्श्वकी वीर-कथा

सव्यसाची

डा० भगवानसहाय पचौरी, पी० एच० डी०

★

क्षणभरको उसने अपने सामने उभरते क्षितिजके उस पार सुदूर वादियोंमें उस सूक्ष्म बिन्दुको आटोमैटिक राइफलके जबड़ेमें धँसी सशक्त दूरबीनकी आँखसे देखा। वह ऊपरको उठ रहा था। ऊपर और ऊपर। सूक्ष्मसे वह सूच्यग्रमाग जैसा बन गया था पैना, नुकीला। देश, काल और वातावरणसे दूर उसकी सैनिक-बुद्धिने राइफलको और भी दृढ़तासे कस लिया। बिन्दु धीरे-धीरे सूक्ष्मसे विराट् होता जा रहा था। उसने देखा कि वह बढ़ रहा है। इकाई टूट रही है। उसमें अनन्त इकाइयोंका समावेश होता वह स्पष्ट देख रहा था। उस सूक्ष्म परमाणुने अनन्त आकाशको अपने ज्योतिचक्रसे अपनी भुजाओंमें परिव्याप्त कर लिया था।

उसने आँखें मलीं। वह विराट् दिव्य-ज्योति उसके सामने चारों ओर फैलती हुई सहस्रों सर्चलाइटोंके समान ऊँचीसे और ऊँची होती गयी और उसके साथ वह भी ऊँचा उठता गया अत्यन्त ऊँचाइयोंतक। यहाँतक कि वह अन्तरिक्षसे बातें करने लगा। एकबार फिर उसने अपनी आँखोंको रगड़ा कि यह सब क्या है? क्या वह स्वप्न देख रहा है? किन्तु नहीं, उसने साफ-साफ देखा, वही सत्य था। जितनी देर प्रकाश-किरणको धरतीपर उतरनेमें लगती है, उसके सौवें भागका भी समय उसे नहीं लगा कि उस विराट् ज्योतिका हिमालय उसीकी ओर लौट पड़ा और उसके शरीरमें समाता गया धीरे-धीरे। एक दिव्य पौरुषके अपौरुषेय प्रवेगसे उसकी शतघ्नी दनदना उठी स्वयमेव। कोई उसकी 'ब्योनैट'की नोंकपर आकर बैठ गया था। तड़्तड़्···तड़्ड़्ड़्ड़्···तड़्तड़्···तड़्ड़्ड़्ड़् कड़ाक् कड़ाक्···तड़् तड़्···कड़ाक् कड़ाक्···तड़्ड़्ड़्ड़्···आवाजें और आवाजें···चीखें और चीखें····दायें-बायें···आगे-पीछे।

महाभारतके युद्धपर्वके पन्ने लिखे जाने लगे। महायुद्धकी विभीषिका पञ्चनदकी धरतीपर फट पड़ी थी। झेलम, चिनाव, रावी और सतलजकी शीतल धाराएँ खौल उठीं। ब्रह्मपुत्रसे लेकर नर्मदा, ताप्ती और कावेरीसे लेकर गङ्गातकका पावन पानी उसकी शतघ्नीके काल-विवरमें गोले बन-बनकर गजब ढा रहे थे। दुश्मनके वायुयान इञ्च-इञ्चपर 'शैलिङ्ग'कर रहे थे। वह बे-खबर था, इन सबसे। उसे बस दीख रहा था कि कोई विराट् उससे कह रहा है: **युद्धस्व, युद्धस्व, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्। नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः······।** एक हतसंज्ञक संज्ञामें वह शतबाहु बना चारों ओर महाप्रलय ढाता रहा, ढाता रहा। उसकी मैगजीनें चुक नहीं रही थीं। खट्,-खट्-खटाक्-खट्। चढ़ती और उतरतीं। गाण्डीवी तूणीर रीता नहीं रहा।

कुछ घण्टों बाद ही उसके सामने अब सब कुछ शान्त! मौतका सन्नाटा। ऐसा सन्नाटा कि सन्नाटा भी सन्नाटेमें अवाक् रह जाय। इस गहन सन्नाटेमें वह अकेला स्थिर खड़ा था

अचल, निश्चल और निर्भीक। दो चट्टानोंके मध्य तीसरी चट्टानके समान अडिग, अविचल, निष्कम्प मुद्रामें भयंकर काल-सा, वासुकि व्याल-सा, प्रतिशोधकी ज्वाल-माल-सा! फटी आँखें कानोंको छू रही थीं, जिनसे शत-शत ज्वालायें निकल रही थीं। राइफलका 'बट' सीधे कन्धेमें घुसा हुआ जैसे 'जाम' हो चुका था। गोलियाँ रीत चुकी थीं किन्तु अंगुलियाँ बड़ी दक्षताके साथ एक सैनिक 'रिद्म'में ट्राइगर'को कड़ाकड़ दबा-चढ़ा रही थीं।

रात को गहरी काली चादरको चीरकर पूर्वसे अग्निपुरुष झांकने लगा। इधर-उधर पासकी पर्वतीय ढलानपर इक्का-दुक्का चिड़ियाँ चहक उठती थीं। जंगली पशुओंके डोलनेसे एकआध पत्थरके लुढ़कनेका कोई शब्द उस निस्तब्धताको भेदकर चुप हो जाता था। स्वर्णपुरुष देशकी विजयपर फूला नहीं समा रहा था। वह शीघ्र ही कई कदम आसमानकी ओर बढ़ चुका था। पहाड़ीके दूरस्थ प्रदेशमें भले ही जन-जीवनके कोई चिह्न धरतीकी गोदमें उभर आये हों, किन्तु छम्बके इर्द-गिर्द सब कुछ छमछाम था, और वह भी एक बुतमात्र दीख रहा था। दूर कहीं आकाशवाणीका सवा आठका समाचार-स्वर विश्वके कानोंमें भारतीय शौर्यकी उस रातकी उपलब्धियोंका लेखा-जोखा उड़ेल रहा था। मशीनें बज रही थीं। टेलीफोन 'रिंगपर रिंग' दे रहे थे। टेलीप्रिण्टर खटक रहे थे। देशके कोने-कोनेमें सड़कें और गलियाँ, घर-बाहर मिल-कारखाने, खेत-खलिहान गर्म-गर्म चर्चाओंकी नर्म-नर्म तहोंको उलटने-पलटनेमें व्यस्त थे। बालकों-बूढ़ोंके चेहरे उल्लास-नदमें नहा रहे थे। चायकी चुस्कियाँ चल रही थीं। गप्पोंकी रफ्तारें ओठोंसे आसमान खूंद रहीं थी। देशभक्तिके तनोंपर झुरझुरी उठ-उठ आ रही थी। नेतागण कलकी योजनाओंमें तल्लीन थे। उन्हें चायका, गप्पोंका अवकाश कहाँ था? स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयोंमें रखे गोलकोंके पेट फूलने लगे थे। नथें और बालियाँ सुरक्षा-फण्डकी राशि बढ़ा रही थीं। देशके तराने तेज हो गये थे। 'आवाज दो हम एक हैं!'—हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, असमी, बंगाली, बिहारी, मद्रासी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी फिर-फिर, झूम-झूम उठते थे। 'वतनकी आबरू खतरेमें हैं, तैयार हो जाओ!' सोना लोहेकी नलियों और गोलियोंमें ढलने लगा था। देशका मनोबल ऊँचा हुआ था। शताब्दियोंके अनन्तर भारतीय शौर्यने नापाक दुश्मनके बर्बर गालपर जबर्दस्त चाँटा जो मारा था।

ऐसे आलममें, ऐसे माहौलमें उससे सैकड़ों मील दूर, नदियों-पहाड़ों-कछारों और मैदानोंसे परे चम्बलके उस पार दो बूढ़े ओठ बुदबुदा रहे थे: धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।......नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः, यत्र योगेश्वरः कृष्णः यत्र पार्थो धनुर्धरः।......झुर्रियोंसे आपूरित दो कर्मशील हाथोंमें तुलसीके दाने बराबर घूम रहे थे: श्रीकृष्णं शरणं मम; श्रीकृष्णः शरणं मम। एक झोपडीमें निरन्तर घृत-दीप सूक्ष्म-से कलेवरसे विराट्का बीज बो रहा था।

चम्बलकी बेटी थी वह। बीहड़ोंमें जन्मी। रेतमें खेली। अभावोंके निर्मम हाथों पली। संघर्षोंमें युवा हुई और भूख-प्यासने उसे आत्मविश्वास दिया। उसका आदमी देशके लिए लड़ते-लड़ते शहीदोंकी पंक्तिमें पहुंच चुका था। वह इकलौटा बेटा था उस चम्बलकी बेटीका। अपने सारे अरमानोंको खाक करके उसने बेटेको पाला था। एक

अरमानकी रक्षाके लिए कि बेटा देशके एक-एक दुश्मनको बीन-बीन कर मारे। दुश्मन, जो उसके पिताका हत्यारा था। युवा होते ही उस वीराने अपने युवा लाड़लेको देशको सौंप दिया था। लेफ्टिनेंट बना ही था कि सीमाओंपर बर्बर तोपें धुआँ उगलने लगीं। दुर्दम्य दस्यु उत्तरी सिंहपौरोंपर दस्तक दे उठा। देशके स्वाभिमानको ललकार दी थी उसने। हिमालयकी हजारों मील लम्बी पहरेदार वादियाँ धू-धू धधक उठीं। चिशूलसे लेकर तेजपुरतक रक्षापंक्ति बनी। वह चिशूलपर लड़ा, फिर असममें। उसने एक ही पाठ पढ़ा था अपनी माँसे : देश-देशका स्वाभिमान ! उत्तरकी आग बुझी ही थी कि पश्चिमका हमारा धोखेबाज पड़ोसी पागल हो उठा। वह वहाँ भी गया और दुश्मनोंको लोहेके चने चबा दिये उसने। अब वह 'कैप्टिन' बन चुका था। कौमका ठाकुर और धर्मसे एक सिपाही ! ऐसा सिपाही जो जान दे, पर आन न दे। चम्बलका पानी पिया था उसने और ऐसी क्षत्राणीका स्तन्य, जो जीजाबाई और दुर्गावतीकी परम्परामें अग्रणी थी।

इधर वीरप्रसू माँकी बायीं आँख फड़कने लगी। शुभ-शकुन हुआ। बूढ़ी आँखोंमें ज्योति फूटी, उधर छम्बकी चट्टानें 'भारतमाताकी जय'के घोषसे काँप उठीं। माँ और दूरस्थ बेटेके होठ स्यात् एक साथ बुदबुदाने लगे : **भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्**। ब्रिगेडियरने सैल्यूटका आदेश दिया। कई सौ राइफलें उस शूर-वीरके सम्मानमें उठ गयीं। वह एक अलौकिक आनन्दमें डूबा हुआ था। उसे लगा कि सामने दूर क्षितिजपर पहाड़ों, नदियों, मैदानोंसे बहुत दूर, बहुत दूर एक सूक्ष्म ज्योति-बिन्दु धीरे-धीरे उठा। उठा और तबतक उठता गया, जबतक उसने समूचे अनन्त आकाशको नहीं ढँक लिया। फिर उसने एक विराट् चक्र सुदर्शनका रूप धारण कर लिया। चक्र आसमानपर घूमता रहा। उसके प्रकाशसे दिशाएँ आलोकित थीं। धरती दिव्योत्सव मना रही थी। वह रणांगणमें था। दिव्य अश्वोंके महारथमें बैठा वह अक्षौहिणीसे जूझ रहा था सव्यसाची बना। स्वयं भगवान् कृष्ण उसके सारथी थे। वे दिव्य-वाणीमें रस घोलते हुए उद्घोष कर रहे थे : **युद्धस्व विगतज्वरः, नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**'। वह झूम-झूम उठता था। कीर्तन-सा हो रहा था उसके कानोंमें। गीतोपदेश गूँजते थे।

उसे जब होश आया तो चारों ओरसे सहस्रों बधाईभरी मुसकानें उसपर अमृत-वर्षा कर रही थीं। ब्रिगेडियरने उसे बाँहोंमें भर लिया। दोस्तोंने उसे हाथों ही हाथों उठा लिया। राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्रीके बधाई सन्देशोंके साथ-साथ उसे एक और उन्नतिका सुसमाचार कमाण्डरने दिया। सेनाके सर्वोच्च सम्मानसे उसे विभूषित किया गया था। वह नहीं जान पाया कि यह सब क्यासे क्या हो गया ! उसने समाचारपत्रोंमें पढ़ा, लोगोंसे सुना कि जब सारी भारतीय सेना अपने ठिकानोंको कूच कर चुकी थी वह 'मिस' हो चुका था। उसी रात, अप्रत्याशित रूपसे अचानक नापाक दुश्मनके कई ब्रिगेड रक्षापंक्तिको तोड़नेको अपने भीमकाय टैंकों और बमवर्षक जैटोंके साथ चढ़े थे। उसने अकेले ही एकाएक प्रत्याक्रमण करके लगातार पाँच घण्टोंतक उनका डटकर मुकाबला किया। सैकड़ों नापाक सैनिकोंको धरा-

शायी करनेके साथ-साथ कई टैंकोंके भी परखचे उसने उड़ाये। दुश्मन अपनेको चारों ओरसे बुरी तरह घिरा समझकर घबड़ाया और वापस जानेको विवश हुआ। उसे बताया गया कि ऐसा लगता था, अकेला वह नहीं, पूरी एक टैंकवाहिनी भारतकी ओरसे लड़ रही थी। यह उसके लड़नेकी करामात थी या चमत्कार कि देशकी सीमाएँ बच गयी उस रात!

उसे लगा कि उसके कानोंमें उसकी माँ कह रही है कि 'बहादुर बेटे, हिम्मतसे लड़ना। तेरे साथ सुदर्शन-चक्रधारी श्रीकृष्ण होंगे। सत्य और धर्म तेरे साथ है। तेरी विजय होगी जैसी अर्जुनकी हुई थी।' उसके सामने माँका बुदबुदाता बूढ़ा चेहरा साफ-साफ उभर आया। उससे मनश्चक्षुओंके समक्ष उभर आयी क्वारी, कोसी और चम्बलकी घाटियाँ एक साथ। मध्य-भारत, बिहार, बंगाल, असम, उत्तर प्रदेश, पंजाब, गुजरात, राजस्थान, मद्रास, आन्ध्र आदि प्रदेशोंकी सभी वीरमाताओंके चेहरे नाचने लगे एक साथ। चित्रपट-सा देखने लगा वह, जिसमें रोरी-अक्षत-नैवेद्य लिये भारतमाँ लालबहादुर शास्त्रीकी आरती उतार रही है।

यह स्थिति उसके सैनिक-हृदयने शीघ्र ही बदल दी है। किन्तु भावीकी आहटसे उसके मुक्के आज भी बँध गये हैं। उसकी पेशानीपर तेवर स्पष्ट तने दीख रहे हैं और वह देखो, उसके मजबूत हाथोंमें आटोमैटिक फिरसे चमकने लगी है। फिरसे उसने छम्बमें अपनी पोजीशन सम्भाल ली है। फिर उसके सामने दूर क्षितिजमें नदियों, पहाड़ों, मैदानोंके परे एक सूक्ष्म ज्योति-बिन्दु बढ़ता दिखाई दे रहा है। फिर उसकी माँकी आवाज उसके कानोंमें गूँजने लगीं है। उसकी 'ब्योनैट' की नोकपर फिर महाकाल आकर बैठनेवाला ही है। उसकी भृकुटियाँ तननेवाली ही है। अड़ियल चट्टानोंकी चटियल खन्दकमें उसे इस बार अधिक देर नहीं बैठना पड़ेगा। कारण, आज पार्थ नहीं, स्वयं चक्रधारी कृष्ण मुरलीको रखकर पाँचजन्य फूँकनेकी तैयारीमें है। आकाश देख चुका है कि सुदर्शन-चक्रके अरोंमें कोटि-कोटि सूर्योंकी चमक प्रवेश कर चुकी है। शायद दिगन्तमें उसकी आहट कुछ-कुछ आने भी लगी है। बस, माँके गीता बाँचनेकी देर है: **निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।** कीलर और अब्दुल हमीद तैयार बैठे हैं। मचल रहे हैं फिरसे उस्मान, शैतानसिंह, होशियारसिंह और न जाने कितने, एक और ऐतिहासिक पाठ पढ़ानेके लिए नापाक बर्बरताको। सव्यसाची एकबार फिर गाण्डीवको उठा रहा है। विजयरथके रणाश्व हिनहिना रहे हैं। टापोंसे धरती खोदते हैं। एकबार इस रथके पहियोंके अरे यदि घूमने लगे, तो फिर अक्षौहिणियोंकी नियति बहुत पहले वेदव्यास लिख गये हैं।

सुदूर क्षितिजके उस पार फिर एक सूक्ष्म ज्योति-बिन्दु उठकर धीरे-धीरे विराट्‌रूप ले रहा है। उसकी शतघ्नी फिर उसके कन्धेपर कस चुकी है। दूर देवालयोंके घण्टोंकी ध्वनिमें कोई बोल रहा है: **निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्!**

●

आधी दुनिया

आपकी पत्नी आपके अनुकूल कैसे बने ?

श्री राजलक्ष्मी गौड़

प्रायः देखा जाता है कि विवाहका एक वर्ष भी नहीं बीत पाता कि नव-दम्पतीमें कलहका अंकुर उत्पन्न हो जाता है। रोज ही एक न एक नया झगड़ा खड़ा हो जाता है। इसका क्या कारण है ?

इस झगड़ेका मुख्य कारण आपके और आपकी पत्नीके विचारोंमें समानताका न होना ही है। लेकिन विवाहके पहलेसे पति-पत्नी दोनों ही एक समान विचारवाले हों, यह बड़ा ही कठिन है। अक्सर यह देखा जाता है कि पति-पत्नी भिन्न-भिन्न विचारवाले होते हैं। कारण, दोनोंका ही पालन-पोषण तथा शिक्षण विभिन्न परिस्थितियों और वातावरणोंमें हुआ होता है।

प्रश्न उठता है कि पत्नीको अपने अनुकूल कैसे बनाया जाय ? पत्नीको अपने अनुकूल बना लेना तो समझदार पुरुषोंके लिए बाँयें हाथका खेल है; लेकिन इसके लिए भी कुछ समयको प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यदि चाहें कि विवाह होते ही आपकी पत्नी तुरन्त आपके अनुकूल आचरण करने लगे तो यह कभी भी सम्भव नहीं। आपके व्यवहारोंसे पत्नीके हृदयमें पूर्ण विश्वास हो जायगा कि आप उसे बहुत अधिक प्यार करते हैं, तभी वह स्वयं ही आपके अनुकूल हो जायगी। लेकिन यदि आप प्यारके स्थानपर उपेक्षाका भाव दिखायेंगे और चाहेंगे कि आप उसे डाँट-डपट कर मार-पीट कर, डरा-धमका कर वशमें कर लें, तो यह कदापि सम्भव नहीं।

क्या आप सोचते हैं कि ऐसी बेढंगी बातोंसे आपकी प्यारी पत्नी आपके अनुकूल हो सकेगी ? आपके दाम्पत्य-जीवनकी गाड़ी सुखसे चल सकेगी ? आप लोगोंका मानसिक सन्तुलन ठीक रहेगा ? आपकी होनेवाली सन्तान उत्तम हो सकेगी ? इस ओर आपने कभी भी विशेष ध्यान नहीं दिया होगा। प्रायः देखा जाता है कि इस प्रकार पति-पत्नीमें आपसके झगड़े नित्य प्रति ही बहुतसे घरोंमें हुआ करते हैं, जिनका उन्हें कोई समाधान नहीं मिलता और उनका सुखद दाम्पत्य-जीवन दुःख, चिन्ता एवं क्लेशमें परिणत हो जाता है। इसका प्रभाव न केवल पत्नीपर, बल्कि सारे कुलपर पड़ता है। यहाँतक कि भावी सन्तानें भी इसकी चपेटसे

बच नहीं पातीं। पत्नीके मानसिक विचारोंका प्रभाव सन्तान पर ही विशेष रूपसे पड़ता है। इस सम्बन्धमें कई एक उदाहरण मेरे सामने हैं।

१. मेरी एक सहेलीके भाई हैं, जिनकी अवस्था इस समय लगभग चालीस वर्षकी होगी। वे एक धनवान् व्यक्ति हैं। उन्होंने अपनी पत्नीको प्रसन्न रखनेके लिए कभी कोई प्रयत्न ही नहीं किया। परिणामस्वरूप वह बराबर मन ही मन दुःखी रहा करती थी। इसी बीच उसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस बच्चेका मस्तिष्क विकृत था, शरीर भी अविकसित था। बच्चेकी यह दशा देख वे महाशय बहुत घबड़ाये और उन्होंने तुरन्त उसे डाक्टरोंको दिखाया। लेकिन उसे उन डाक्टरोंकी दवाओंसे कुछ भी लाभ नहीं हुआ और छह महीने बीत गये। अब वह उसे लेकर पटना, लखनऊ, आगरा जहाँ-जहाँ जिसने बतलाया, वहाँ-वहाँ दौड़े। उस बच्चेके पीछे उन्होंने पानीकी तरह रुपया बहाया, लेकिन सफलता उनके हाथ न लगी। वह लड़का आज भी पागलकी दशामें है। बीस वर्षका हो चुका है। उसके माता, पिता अत्यन्त दुःखी हैं। माताकी दशा तो बहुत ही शोचनीय हो गयी है।

२. एक सज्जन मनोविज्ञानके प्रोफेसर हैं। उनकी पत्नी भी मनोविज्ञानमें एम० ए० है। उनकी पत्नीने उनके अत्यन्त कठोर व्यवहारसे तंग आकर उन्हें छोड़ दिया है। अब वह स्वतन्त्र है और एक कालेजमें पढ़ाती है।

३. चम्पा मेरे गाँवमें एक धनी वेश्याकी लड़की थी। उसकी शादी एक धनी घरमें हुई थी, लेकिन उसका पति शराबी था। वह उसे बहुत मारा-पीटा करता था। एक दिन उसने अपने पतिके व्यवहारोंसे दुःखी होकर अपने कमरेका द्वार बन्द करके अपने ऊपर मिट्टीका तेल छिड़क कर आग लगा ली। आगकी लपटोंको देखकर लोग दौड़े, लेकिन तबतक उसका काम तमाम हो चुका था। पुलिस आयी, घरवाले सब पकड़े गये, हजारों रुपया खर्च हुआ, तब कहीं जाकर छूटे।

४. रघियाको मैं भूल नहीं सकती। वह मेरे निकट सम्बन्धीके नौकरकी पत्नी थी। उसका पति बात-बातमें उसे मारा-पीटा करता था। परिणाम यह हुआ कि वह एक दिन घरसे गायब हो गयी! बहुत ढूँढ़नेपर भी उसका आजतक पता नहीं चला।

इस प्रकार आपने देखा कि पत्नीको सन्तुष्ट न रखनेका परिणाम कितना भयंकर होता है? अपने हृदयमें जो दुःख होता है, वह तो होता ही है। इसके अलावा हमारी भावी सन्तानें गर्भमें ही रोगग्रस्त हो जाती हैं और उनका भविष्य अन्धकारमय हो जाता है। अच्छे-अच्छे कुल भी विनष्ट हो जाते हैं।

पत्नीको अनुकूल बनानेका उपाय

विवाहके पश्चात् जब कन्या अपने पतिके घर जाती है, तब उसका हृदय बहुत-सी आशाओंसे भरा हुआ होता है। उस समय वह एक नये जीवनमें पदार्पण करती है। वहाँकी प्रत्येक वस्तु ही उसके लिए नयी होती है, जिसे अपनानेके लिए उसे काफी संकोच और लज्जा-

का सामना करना पड़ता है। मायकेकी तरह तो वहाँ आजादी होती नहीं, वहाँ तो उसके लिए सभी अपरिचित होते हैं। ऐसे समय जब ससुरालवाले उस नयी बहूके साथ कटु व्यवहार करते हैं, तब उसके हृदयको बहुत चोट पहुँचती है। फिर भी उसे एक ऐसी आशाकी ज्योति दिखायी देती है, जो उसके सब दुःखोंको भुला देती है। वह है, उसके पतिका सच्चा स्नेह। यदि उसे अपने पतिका सच्चा प्रेम प्राप्त हो गया, तो समझ लीजिये कि वह अनेक कष्टोंको हँसते हुए पार कर सकती है और उसका पति उसको जैसी चाहें वैसी बना सकता है। लेकिन यदि इसके विपरीत आचरण करनेवाले पति चाहें कि हम अपनी पत्नीको डरा-धमका कर अपने अनुकूल बना लें, तो यह कभी भी सम्भव नहीं; क्योंकि प्रेमसे ही एक दूसरेको जीता जा सकता है।

पतिको चाहिए कि वह अपनी पत्नीको सब प्रकारसे सन्तुष्ट रखनेका प्रयत्न करे। उसकी प्रत्येक बातका ध्यान रखे कि उसे कौन-सी वस्तु विशेष प्रिय है, वही उसे लाकर दें, वह जैसा कहे उसके अनुकूल चले, उसकी प्रत्येक अभिलाषाको यथाशक्ति पूर्ण करनेका प्रयत्न करे। उसके साथ मधुर भाषण करे, उसे कोई कड़ा शब्द न कहे, क्योंकि पत्नी घरकी लक्ष्मी होती है। चाँदी, सोने, ताम्बेके सिक्कोंको लक्ष्मी कहना गलत है। बहुतसे लोग मिट्टीकी लक्ष्मीकी मूर्ति लाकर घरमें रखते हैं और उन्हें पूजते हैं, पर अपने घरमें ही स्थित चेतनायुक्त चलती-फिरती, बोलती-गाती और हँसती लक्ष्मीका तिरस्कार करते हैं। इससे बढ़कर अज्ञानता और क्या हो सकती है? वास्तविक लक्ष्मी तो आपकी पत्नी ही है। उसीकी पूजा आपको करनी चाहिए। इस सम्बन्धमें महाराज मनुके ये वाक्य द्रष्टव्य है।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥

(मनु० ३.५५—५७, ५९)

अर्थात् पिता, भाई, पति और देवरको चाहिए कि वह बहूको भूषण-वस्त्र और नये-नये उपहारोंसे प्रसन्न रखें। जिन्हें बहुत कल्याणकी इच्छा हो, उन्हें ऐसा करना चाहिए। •जिस घरमें स्त्रियोंका सत्कार होता है वहाँ सब देवता वास करते हैं और जिस घरमें स्त्रियोंका सत्कार नहीं होता, वहाँके लोग जो कुछ कार्य करते हैं, वह कभी सफल नहीं होता। •जिस घर या कुलमें स्त्रियाँ शोकातुर होकर दुःख पाती हैं, वह कुल शीघ्र नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और जिस कुलमें स्त्रियाँ आनन्द, उत्साह और प्रसन्नतासे भरी रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है।

इसीलिए ऐश्वर्यकी कामना करनेवाले पुरुषोंको चाहिए कि सत्कार और उत्सवके समयोंमें भूषण, वस्त्र और भोजनादिसे स्त्रियोंका नित्य प्रति सत्कार किया करें।

पत्नी विरुद्ध क्यों बनती है ?

भारतीय बहनोंमें कोई भी बहन ऐसी न होगी, जो अपने पतिको देवता-तुल्य न समझती हो और उनकी पूजा न करती हो। प्रत्येक स्त्री यही चाहती है कि मैं ऐसा काम करूं, जिसे मेरे पति पसन्द करें। वह उन्हींके अनुसार बन जाती है। वह इसीमें अपना सौभाग्य समझती है कि अपने प्रिय पतिके कहनेके अनुसार चले। लेकिन कुछ बहनें ऐसी भी हैं, जिनके जीवनमें कठोरता आ गयी है और वे अपने पतिके विपरीत आचरण किया करती हैं। इसका कारण स्वयं उनके पति ही हैं।

आप कहेंगे कि यह कैसे संभव हो सकता है ? लेकिन मैं यह दावेके साथ कह सकती हूं कि पति अपनी पत्नीको जैसी चाहे वैसी बना सकता है। केवल उसे अपनी पत्नीको खुश रखनेका प्रयत्न करना पड़ेगा। जब ऐसा होगा, तो पत्नी स्वयं ही अपने पतिके अनुकूल हो जायगी। भगवान् कृष्ण तो अपनी पत्नीको खुश करनेके लिए उसकी इच्छानुसार स्वर्गसे कभी न सूखनेवाले फूलोंसे युक्त पारिजात-वृक्ष जड़सहित उखाड़ लाये थे। उसके लानेमें उन्हें वहां घोर युद्ध करना पड़ा था।

पतिकी ओरसे कठोरताका व्यवहार होनेपर ही पत्नीमें भी कठोरता आ जाती है। उसके हृदयमें तरह-तरहकी बातें उठने लगती हैं। वह सोचने लगती है कि 'मेरे पति मुझे केवल एक दासीके रूपमें ही समझते हैं; तभी तो वे मेरी कोई भी इच्छा पूर्ण नहीं करते। जिस बातको मैं कहती हूं, उसे काट ही देते हैं। बात-बातपर बिगड़ने लगते हैं। मुझे अपनी आशाओं और अरमानोंका महल उनके कटु व्यवहारोंको देखकर अपने ही आंसुओंसे धराशायी कर देना पड़ता है। क्या पतिकी इच्छाओंको पूर्ण करना ही पत्नीका धर्म है ? क्या पत्नीका अपना कोई भी अस्तित्व नहीं है ? क्या पतिके सामने अपनी इच्छाओंको प्रकट करना पत्नीके लिए पाप है ?'

इसी प्रकारके अनेक विचार उसके मस्तिष्कको खराब कर देते हैं और उसका मन एकाएक विद्रोह कर उठता है। उस समय उसे अपने पतिकी अच्छी बातें भी बुरी लगने लगती हैं। ऐसे ही समय यदि कहीं दुर्भाग्यवश पत्नीको बुरी संगति लग गयी और पास-पड़ोसके लोगोंने उसे उल्टा-सीधा सुझाव दिया, तब तो समझ लीजिये कि जिस प्रकार जलती लकड़ियोंमें घृत डाल देनेसे अग्नि प्रचण्ड रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार पत्नी भी उग्र रूप धारण कर लेती है और अपने पतिसे लोहा लेनेके लिए तैयार हो जाती है। यदि कहीं पढ़ी-लिखी हुई, तब तो उसे इस बातका घमण्ड हो जाता है कि 'मैं तो स्वयं ही कमाने लायक हूं; मुझे किसीकी क्या आवश्यकता ? जब पति मेरी इच्छाओंको पूर्ण ही नहीं कर सकता, तो उसके साथ रहनेसे क्या लाभ ?'

इस प्रकार वह पतिका त्याग कर देती है और उनकी सुनहली गृहस्थी छिन्न-भिन्न हो जाती है, क्योंकि गृहस्थीकी गाड़ी पति और पत्नी दोनों ही पहियोंसे चलती है। इसी प्रकार अशिक्षित स्त्रियां तो दूसरोंके बहकावेमें आकर उनके साथ भाग भी जाया करती हैं।

इसलिए मेरा आपसे नम्र निवेदन है कि आप अपनी पत्नीका विशेष रूपसे ध्यान रखिये, उसे कभी अप्रसन्न न होने दीजिये। जब वह आपसे प्रसन्न रहेगी तब आप उससे जो कुछ भी चाहेंगे, प्रसन्नतापूर्वक करनेको तैयार रहेगी और आपका गार्हस्थ-जीवन बहुत ही सुखद और समृद्धिशाली हो जायगा। इस सम्बन्धमें महाराज मनुके निम्नलिखित आदेश पतियों तथा पति बननेके इच्छुकों तथा अन्य अभिभावकोंके लिए सदा ही स्मरण रखनेयोग्य हैं :

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥
यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते॥
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥

अर्थात् जिस कुलमें पत्नीसे पति और पतिसे पत्नी पूर्णरूपसे प्रसन्न रहते हैं, उस कुलमें सब सौभाग्य और ऐश्वर्य निवास करते हैं। जहाँ कलह होता है वहाँ दुर्भाग्य और दारिद्र्य छा जाता है। यदि स्त्री पतिसे प्रीतिपूर्वक व्यवहार नहीं करती और उसे प्रसन्न नहीं रखती, तो पतिके अप्रसन्न होनेसे सन्तान नहीं होती। स्त्रीकी प्रसन्नतामें सारा कुल प्रसन्न रहता है और उसकी अप्रसन्नतामें सब अप्रसन्न और दुःखदायक हो जाता है।

दाम्पत्य-जीवनका सार-सर्वस्व !

श्रुति कहती है कि अखिल विश्व मात्र ज्ञानरूप है, फिर भी मायामोहित कुदृष्टिजनोंको यह केवल भोग्य प्रतीत होता है। उसका अन्तिम उद्देश्य है, विश्वमें एकमात्र ज्ञानरूपताकी दृष्टि स्थिर करना। वही सत् और वही आनन्द है। विवाह-का स्थूल और रोचक माध्यम बनाकर वह भिन्न-भिन्न भासनेवाले प्रकृति और पुरुषका ऐक्य ही साधना चाहती है। जैसे आधा और आधा भाग मिलकर एक पूर्ण वस्तु बनती है वैसे ही प्रकृति और पुरुषका एकीकरण एक अखण्ड परमात्माका रूप है। विवाह-संस्कारसे स्त्री एवं पुरुष एकरूप बनाये जाते हैं और फिर उनके द्वारा सृष्टिके सभी कार्य यथास्थित चलते रहते हैं। कोई भी कार्य पूर्ण द्वारा ही सम्पन्न हुआ करता है, अपूर्णसे नहीं। सती और पतिको अभ्युदय और निःश्रेयसका मार्ग दिखलाते हुए उनके मौलिक अखण्ड एकरूपका अनुभव कराना ही वैदिक-धर्मका दाम्पत्य-जीवनसम्बन्धी तात्त्विक दर्शन है और यही है दाम्पत्तिक विश्वधर्म का सार-सर्वस्व !

'आर्य-संस्कृति' से

—समर्थानुगृहीत महात्मा श्री श्रीधरस्वामी

कुब्जाष्टक : अनूठा उपालम्भ काव्य ★ महाकवि ग्वाल

१. मोहि अतिचारिनी अछूत कहि बोलति हैं,
राखति न नैंक न सम्हारिकैं जवान कौं।
दीन्हौं गोपिकान नैं भलौ ही ताहिनौ है वीर,
खोलौंगी उन्हींके पतिव्रत के बखान कौं॥
'ग्वालकवि' अब लौं रही ही चुप कंतकानि,
कहौं कहा गँवारिनिके अधिक अयान कौं।
जानौंगी ऊँचाई चतुराई उन गोपिनकी,
लैंय तो बुलाय अब साँवरे सुजान कौं॥

२. प्रेमके पयोनिधिमैं पैरि पार जातीं जो पै,
तौ पै मोहि करते क्यों सुदो दूजरी।
आज हू लौं कूबरी ही कूबरी कहत मोहि,
जद्यपि करी है कान्ह मोहि अति ऊजरी॥
'ग्वालकवि' वे तौ मद दूबरी न दीसैं कछु,
मैं तौ नरनारिनमैं होय रही पूजरी।
लाग बस वाकौ कछू जानत न लाग रस,
जानैं ना सुहागभाग हैं गँवार गूजरी॥

३. मोहि वेर वेर चेरी चेरी कहैं गोपिका वे,
होउं जो पै नेरी, तौ बताऊँ बात सारी है।
चेरी हौं तौ ठीक, पर कंस महाराजकी हौं,
प्यारी व्रजराजकी हौं पूजैं सब नारी है॥
'ग्वालकवि' वे तौ दिसि दिसि द्वार द्वार जायँ,
दही लेउ दही लेउ ग्वालिन पुकारी है।
प्यारौ उनकौं हौ, तौ न न्यारौ हौन देती जभी,
जानैं कहा आखिर तौ ग्वालिनी गँवारी है॥

४. दासीसौं कहत दासी यामैं कौन ताहिनौ है,
उनकी खवासी तौ न कीनी जोर कर है।
वे हू तो न काहूकी कहाईं पटरानी अजौं,
झगरत डोलैं एक एक कौड़ी पर हैं॥
'ग्वालकवि' कहैं एक घाटौ तौ जरूर मोमैं,
गोबर न थाप्यौ, औ न खोयौ मैं उकर हैं।
घर-घर द्वार-द्वार गली-गली फिरवैया,
भोर तैं धंसत सांझ तिनकी कहा दर है॥

५. परपति केलि गोपि गोपि सदा करती हीं,
यातैं ठीक गोपिका है नाम गुन गैवे कौं।
चंदन चढ़ायौ मैं जु, सो जहान जानत है,
उन मैंट्यौ कूब, दियौ रूप प्रभा पैवौ कौं॥
'ग्वालकवि' मैं हूँ कियौ तन मन अरपन,
राख्यौ पतिव्रतप्रन सुजस बढ़ैवे कौं।
कियौ पति मैंने व्रजराज राजमारगमैं,
डंका बज्यौ मथुरामैं मेरे घर ऐवे कौं॥
६. गोपी मतिलोपीकी सुनी ही बात कैयन पै,
मोकौं तौ कुजातिनी दुसील कहि बोली वे।
आपुने ना औगुन गतत परपतिपागीं,
ऐसी बेसरम, करैं मोहीं सौ ठिठौली वे॥
'ग्वालकवि' छिप-छिप अंधियारी रातिनमैं,
सोये पति त्यागिके, किवारैं मूंदि खोली वे।
बनन मैं, बागन मैं, जमुना-कछारन मैं,
खेतन-खदान मैं किलोल करि डोली वे॥
७. जो पीय ब्याहि लायौ, ताहींसौं रोपी छिपन,
सब लोकलाज लोपी, दुरनीति करी है।
मायकेकी, सासुरेकी, कुलकानि खामी करी,
बात बदनामीकी सुनी न काहू घरी है॥
'ग्वालकवि' कहै ऐसे-ऐसे कर्म-धर्म-लीन,
तौहू मोहि कहै वे दुसील सौत धरी है।
सांची है मसल 'सूप बोलै तौ भलैं हो बोलै,
चालनी हूँ बोलै जो कि छेदन सौं भरी है॥
८. करि सकौं कैसैं गोपिकानकी बराबरी मैं
हौं न धरी सीस जली दही के किमाम की।
मैं न काहू मानुससौं खेलत डोली कहूँ
बात हू न कीन्हीं कहूँ, हँसि-हँसि कामकी॥
'ग्वालकवि' कबहूँ छिपीं न खेत-खिरकन मैं,
खोरि मैं; न बन मैं, न बगिया-अरामकी।
चाहैं नर-नारीं मेरी यारी गनौं सांवरेसौं,
चाहैं घर-वारी प्रानप्यारी गनौं स्यामकी॥

●

विचार-मन्थनका नवनीत

मन : स्थान, प्रकृति और संस्कार

आचार्य श्री सीताराम चतुर्वेदी

★

श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुनने मनकी प्रकृतिका निर्देश करते हुए भगवान् श्रीकृष्णसे कहा :

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

'हे प्रियसखा कृष्ण ! यह मन बड़ा चञ्चल और बलवान् है, इसलिए इसे वश करना मैं वायुकी भाँति अतिदुष्कर मानता हूँ।' अन्य अनेक स्थलोंपर भी मनके सम्बन्धमें इसी प्रकारके वचन प्राप्त होते हैं कि मन ही मनुष्योंके बन्धन और मोक्षका कारण है :

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

सामाजिक व्यवहारमें हम जिसे पाप और पुण्य मानते हैं, उन सबका आधार भी मन ही माना गया है, क्योंकि पाप या पुण्य जो कुछ करता है, मन ही करता है, शरीर नहीं :

मनसैव कृतं पापं न शरीरकृतं कृतम्।
येनैवालिङ्गिता कान्ता तेनैवालिङ्गिता सुता॥

अन्य देशोंमें भी जहाँ-जहाँ मनके विषयमें जिज्ञासा की गयी है, वहाँ-वहाँ उसे चञ्चल ही बताया गया है। किन्तु शरीरके भीतर मन कहाँ है, इस सम्बन्धमें विदेशी शरीर-शास्त्रियों या मनोवैज्ञानिकोंने आजतक कोई समाधान नहीं किया। वे मनको एक शक्ति-स्रोत (फैकल्टी) मानते हैं। किन्तु यह शक्ति-स्रोत शरीरके किस अंग या संस्थानमें समवस्थित है, इस सम्बन्धमें न तो मनोवैज्ञानिकोंने ही कोई खोज की है और न विदेशी शरीर-शास्त्रियोंने ही विचार किया। यद्यपि आजकल मानसिक योग्यता, मानसिक प्रक्रिया, मानसिक शक्ति आदि अनेक विषयोंपर विस्तारसे विचार किया जा रहा है, परीक्षण भी होते जा रहे हैं; किन्तु मन क्या और कहाँ है, यह आजतक कोई नहीं बता पाया है।

वेदमें मनकी व्याख्या करते हुए कहा गया है।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमभृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

जो प्रज्ञान (आध्यात्मिक चेतना देनेवाला), चेत (चेतना), धृति (विवेक) तथा आन्तरिक अमर ज्योति है और जिसके बिना कोई कार्य किया नहीं जा सकता, वह हमारा मन मंगलमय संकल्पोंवाला हो। इस ऋचामें वैदिक मंत्र-द्रष्टा ऋषिने मनकी पूर्ण प्रकृतिका वह विश्लेषण किया है जो आजतक भी विदेशी मनोवैज्ञानिक नहीं कर पाये। उन्होंने मनका परीक्षण कई दृष्टियोंसे किया है : एक तो उसकी अन्तःप्रकृतिसे जिसके द्वारा वह परमार्थ तत्त्व, ईश्वर, परचित्त-विज्ञान, आत्म-ज्ञान, भावी ज्ञान, परेङ्गित ज्ञान, चिन्तन, मनन, भावना करता है तो दूसरा उसका बाह्य पक्ष है, जिसमें मन, ज्ञानेन्द्रियोंको चेतन रखकर अपने चारों ओर व्याप्त विश्वका सम्प्रेक्षण, अनुभव और संस्कार प्राप्त करता हुआ प्रतिक्रिया करता है। यही मनकी चेतन-शक्ति है। मनकी तीसरी शक्ति धृति है, जो मनुष्यके अनुभवमें आनेवाले समस्त संस्कारोंका सामाजिक नियमोंके अनुसार परीक्षण करके उन्हें ग्राह्य या त्याज्य करती चलती है, जिसे 'फ्रायड'ने 'ईगो' कहा है। मनकी चौथी शक्ति है, आन्तरिक ज्योति जिसके द्वारा मनुष्य नयी-नयी उद्भावानाएं करता है, अन्तःस्फुरणका अनुभव करता है और नवीन आविष्कार, नवीन कल्पना, नवीन भावना या विचार प्रस्तुत करता है। इसलिए ऋषिने कहा है कि इस मनके बिना आध्यात्मिक, भौतिक, नैतिक और स्वान्तःस्फुरित किसी भी प्रकारका कार्य मनुष्य नहीं कर पाता। इसलिए उसने कामना की है कि हमारा यह मन अच्छे संकल्पोंवाला बने।

इसी दृष्टिसे हमारे यहाँ मनको उभयेन्द्रिय माना गया है अर्थात् मन ज्ञानेन्द्रिय भी है। और कर्मेन्द्रिय भी। ज्ञानेन्द्रियके रूपमें वह केवल भौतिक अनुभव ही नहीं करता, वरन् आध्यात्मिक ज्ञान, परचित्त-ज्ञान, परेङ्गित-ज्ञान, अन्तःस्फुरण, सूक्ष्म, पूर्वकालिक, परकालिक आदि अनेक प्रकारका अनुभव करता है कर्मेन्द्रियके रूपमें वह अनेक प्रकारके सत्कार्यों और असत्कार्योंके लिए प्रेरणा देता है, बुद्धिको प्रभावित करता है; कल्पना, निश्चय, चिन्ता इच्छा, कामना और वासनाके लिए क्षेत्र प्रस्तुत करता है। अनेक प्रकारके साहसपूर्ण और दुःसाहसपूर्ण कार्य तथा संकल्प करनेको प्रवृत्त करता तथा अहंकारको उत्तेजित करता है। किन्तु मन तभीतक ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय बना रहता है, जबतक चेतना विद्यमान है। मनकी गतिके लिए केवल प्राण रहना आवश्यक नहीं, चेतना रहना भी अनिवार्य है जो जाग्रत्-अवस्थामें भी औषधि अथवा मादक पदार्थों द्वारा निश्चेष्ट या विकृत हो जाता है, स्वप्नावस्थामें परम स्वतन्त्र हो जाता है, सुषुप्ति-अवस्थामें पूर्णतः निष्क्रिय हो जाता है और तुरीयावस्थामें अस्तित्वहीन हो जाता है :

मनका स्थान

कुछ लोगोंका मत है कि मन मस्तिष्कमें रहता है, तो कुछ लोग हृदयमें उसे अवस्थित मानते हैं। किन्तु ये दोनों सिद्धान्त भ्रामक हैं। जब हम चिन्तन अथवा विचार करते हैं तब स्वभावतः हमें अपने मस्तिष्कमें भारीपनका अनुभव होता है; क्योंकि हमारी ज्ञानेन्द्रियोंके ज्ञान-केन्द्र मस्तिष्कमें ही हैं। किन्तु अधिक स्नेह, वियोग, वात्सल्य, उत्साह आदिका अनुभव हृदयमें

होता जान पड़ता है। वस्तुतः ये दोनों (मस्तिष्क और हृदय) विशेष अनुभवके केन्द्र हैं, इसीलिए लोग मनको हृदय या मस्तिष्कमें मानकर चले हैं। किन्तु अर्जुनने 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण' कहकर भगवान् श्रीकृष्णसे मनकी प्रकृतिके सम्बन्धमें वक्तव्य देते हुए उसके स्थानका भी निर्देश कर दिया है। मनकी चञ्चलताका केवल यही अर्थ नहीं कि मन थोड़ी-थोड़ी देरमें एक विषयसे दूसरी विषयकी ओर जाता है; वरन उसका तात्पर्य यह है कि वह एक ज्ञानेन्द्रियसे या कर्मेन्द्रियसे दूसरी ज्ञानेन्द्रिय या कर्मेन्द्रियतक पहुँचा रहता है, क्योंकि जबतक वह ऐसा नहीं करता, तबतक एक विषयसे दूसरे विषयतक पहुँच ही नहीं पा सकता। यदि पैरके अँगूठेमें चोट लग जाय तो मन वहीं जाकर अड़ जाता है। किसी सुन्दर वस्तु या चित्रकी ओर आकृष्ट होता है तो वह नेत्रमें ही जा बैठता है। इस प्रकार मन अपने केन्द्रित विषयसे सम्बद्ध विशेष इन्द्रियमें मग्न होकर तन्मय हो जाता है। अतः मन हमारे सारे शरीरमें व्याप्त है और जब जहाँ आवश्यक समझता, वहीं पहुँच जाता है। वह मनोमय-कोषके रूपमें अन्नमय तथा प्राणमयसे भिन्न, किन्तु उनके साथ सारे शरीरमें व्याप्त रहता है। कभी-कभी जब औषधि या सूई द्वारा कोई अंग चेतना-शून्य कर दिया जाता है, तो उतने भागसे मनोमय-कोष लुप्त हो जाता है।

हमारे शरीरको चेतना देनेवाली जो चिन्मय परमात्म-शक्ति है, उसे भी यह मन अपनी इस चञ्चलता और व्यापकताके कारण स्वयं भाषित नहीं होने देता। यही कारण है कि हमारा अन्नमय, प्राणमय और मनोमय-कोष केवल सक्रिय दिखाई पड़ता है, विज्ञानमय और आनन्दमय-कोष भाषित नहीं हो पाते। वर्तमान विदेशी मनोविज्ञान और भारतीय मनोविज्ञानमें सबसे बड़ा अन्तर यही है कि वर्तमान मनोवैज्ञानिक केवल मनकी वृत्तियोंको परख कर उन्हें असामाजिक क्षेत्रोंकी ओर जानेसे रोककर सामाजिक या नैतिक क्षेत्रकी ओर प्रवृत्त करनेका प्रयत्न करते हैं। किन्तु वैसा वही कर सकता है, जो स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके समान योगेश्वर या स्थितप्रज्ञ हो। यही कारण है कि वर्तमान मनोविज्ञान न तो पूर्णता प्राप्त कर पाया, न सफलता।

हमारे यहाँ चरकसंहितामें सात्त्विक, राजस और तामस मनके अनुसार उनमें उत्पन्न होनेवाले विकारोंको 'प्रज्ञापराध' बताया है और उसकी मानस-चिकित्साके लिए सत्संग, सद्ग्रन्थोंका अध्ययन आदि अनेक उपायोंका अवलम्ब लेनेकी युक्ति बतलायी है। साथ ही यह भी कहा है कि मन ही अनेक रोगोंकी जड़ है। इस मनको ऐसा साधना चाहिए कि वह पूर्णतः वश हो जाय, जिससे मनुष्य पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त करके आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक कष्टोंसे निवृत्ति पा सके। वर्तमान मनोविज्ञान आत्मज्ञानकी बात ही नहीं करता, क्योंकि आत्माका विचार उसकी परिधिसे बाहर है। हमारे यहाँ दुर्निग्रह और चञ्चल मनको अभ्यास और वैराग्यसे वश करनेका निर्देश दिया है, जिससे मनुष्य योगयुक्त होकर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त कर सके :

हमारे यहाँ मनको इसलिए भी सिद्ध किया जाता था कि वह विश्व-मानसके साथ एकात्मभाव स्थापित करके, भूत भविष्य और वतमान सब कुछ जान ले। मनकी इस शक्तिको साध

(शेष अगले पृष्ठ पर नीचेकी ओर)

स्वकर्म और संसिद्धि

श्री गोकुलानन्द तैलंग, बी० ए० साहित्यरत्न

★

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु॥
(गीता० १८.४५)

'अपने-अपने विहित, कर्तव्य कर्मोंका सुचारु निर्वाह करनेवाला मनुष्य सम्यक् प्रकारकी सिद्धिको प्राप्त करता है। अपने निर्दिष्ट कर्मोंमें भलीभाँति लगा मनुष्य किस प्रकार अपने जीवनमें सिद्धि प्राप्त करता है, उसे तू सुन !' इस भगवद्वाक्यमें जिस 'संसिद्धि'की ओर संकेत किया गया है, वह क्या है ? जिस सिद्धिकी प्राप्तिके लिए मानव-जीवनके समस्त कर्तव्य-कर्मोंका सम्पादन किया जा रहा है, वह क्या वस्तु है और क्या होनी चाहिए ? प्रथम यही विवेचनीय है।

यह एक नित्य-सत्य है कि जिस रूपमें, जिस लक्ष्यको लेकर पदार्थका सर्जन होता है, उसी रूप और उसी लक्ष्यमें उसका पर्यवसित हो जाना अनिवार्य एवं नैसर्गिक है। हम देखते हैं कि पृथ्वीपर वृक्ष बीजसे उत्पन्न होकर पुनः बीजरूप ले उसी पृथ्वीतलमें आकर जन्म लेता है। जिस पंचतत्त्वसे इस मानव-देहका निर्माण होता है, मृत्युके अनन्तर वह उन्हीं

(पिछले पृष्ठ का शेषांश)

लेनेकी बात वर्तमान मनोविज्ञान अपनी परिधिसे बाहर समझता है। किन्तु प्रायः ऐसे अनुभव होते हैं कि मनुष्य स्वप्नमें जो देखता है, वह जागनेपर तत्काल या कुछ समय बाद प्रत्यक्ष हो जाता है। ऐसा अनुभव होता है मानो कोई मृत पुरुष अथवा विदेश गया हुआ पुरुष प्रत्यक्ष खड़ा है, किन्तु थोड़ी देरमें वह अन्तर्हित हो जाता है। किसी-किसीको अलौकिक दृश्य या रूप भी दिखाई पड़ते हैं, गड़ा हुआ धन दिखाई पड़ता है तथा अन्य इसी प्रकारके अनुभव होते हैं, जिनका कोई प्रत्यक्ष या वैज्ञानिक कारण नहीं दिया जा सकता। अनेक ऐसे जातिस्मर लोगोंका विवरण मिलता है, जिन्हें पिछले जन्मकी स्मृति रहती है। आजकल परा-मनोविद्याके अन्तर्गत इन विषयोंका तथा जीवनोत्तर जीवनका अध्ययन भी किया जा रहा है। भारतीय मनोवैज्ञानिकोंको इन सभी दृष्टियोंसे मनोविज्ञानका भारतीकरण करते हुए भारतीय मनोविज्ञान-संस्कार करके विदेशी मनोवैज्ञानिकोंका पथ-प्रदर्शन करना चाहिए। विदेशी ढोल गले डालकर पीटना केवल मानसिक दासताका ही नहीं; अज्ञानता, अगति और विवेकहीनताका भी सूचक है। ●

पंचतत्त्वोंमें जाकर एकीभूत हो जाता है। इस तथ्यके अनुसार हमारे जीवनका भी कोई एक उद्गम और अन्तिम पर्यवसान-केन्द्र होना चाहिए।

समस्त चराचर जगत् उसी अनन्तका एक कण या एक अंश है और उसीके पूर्ण रूपको प्राप्त करनेकी उसमें क्षमता एवं शक्ति भी है। हम सब उस अनादि, अनन्त, अव्यक्तकी गोदसे उसीकी आज्ञा और निर्देशसे उसकी लीला-सृष्टिमें सहायक होनेके लिए अपना कर्तव्य निबाहने इस मृत्यलोकमें आविर्भूत हुए हैं। अन्ततोगत्वा उसी अनन्तको प्राप्तकर, उसकी गोदमें सो जाना हमारे जीवनका चरम लक्ष्य है। अतएव हमारी समस्त जीवनी-शक्तियों—जीवनके समस्त कर्तव्य, ध्येय-धारणाओं, हृदय, आत्मा, प्राण और रग-रगकी समस्त वृत्तियोंका केन्द्र-विन्दु वही परमतत्त्व होना चाहिए, जो हमारे उद्‌भवका एकमात्र आश्रय-स्थल है। इसीलिए भगवान् कहते हैं :

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ (१८.४६)

'अव्यक्त शक्ति (ईश्वर) समस्त प्राणियोंमें अवस्थित है, और उसकी सत्ता समस्त चराचर जगत्‌में व्याप्त है। उसकी अपने कर्मों द्वारा अर्चना करके ही मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो सकता है।'

यहाँ यह बतलाया गया है कि जीवनकी यह 'सिद्धि' प्राप्त होगी। 'स्वकर्मणा', अपने निर्धारित कर्मों द्वारा। जबतक हम अपने लिए ही निर्धारित कर्म न करेंगे, हमारा कल्याण अनिश्चित है, हमारी 'सिद्धि' असम्भव है। यही उस अनन्तके लिए हमारी अर्चना है, यही उपासना है और यही है हमारे जीवनका श्रेयस्कर पथ।

मनुष्य कभी भी, एक क्षणके लिए भी कर्मके बिना नहीं रह सकता। उसका जीवन ही ऐसे तत्त्व और परमाणुओंसे बना है कि उसका स्वाभाविक प्रवाह कर्मकी ओर है। प्रकृति-प्रेरित होकर उसके जीवनका घटना-चक्र कर्मकी इसी परिधिपर घूम रहा है। बिना कर्मके उसकी शरीर-यात्रा ही अवरुद्ध हो जायगी। उसकी कर्म-शृंखला टूट जानेपर उसका जीवन-प्रवाह ही रुक जायगा। स्वयं भगवान्—जिन्हें त्रिलोकीमें कोई अपना कर्तव्य नहीं है—लोक-संग्रहके लिए, जगत्‌को अपने आदर्शसे कर्मपथपर आरूढ़ करनेके लिए कर्ममें प्रवृत्त होते हैं। अतएव धर्मशास्त्रोंद्वारा प्रतिपादित, वेदविहित व्यक्तिगत, समाजगत, राष्ट्रगत सभी कर्तव्य कर्मोंका अनवरत सम्पादन करते रहना हमारे लिए अनिवार्य है।

सम्भव है, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपमें, हमें अपने लिए शास्त्रोंद्वारा विहित कर्तव्य-कर्मोंमें कोई दोष भी दृष्टिगत हो। किन्तु ऐसी दशामें वह हमारे दृष्टिकोणका भ्रम ही हो सकता है। वे सभी कर्म हमारे विभिन्न गुण, स्वभाव आदिकी आधार-शिलापर ही निर्धारित किये गये हैं। वे समस्त कर्म हमारे साथ ही, हमारे जन्मके साथ ही ओत-प्रोत होकर उत्पन्न हुए हैं। हम उन्हें किसी प्रकार भी नहीं छोड़ सकते। जहाँ अग्नि होगी, वहाँ धुएँका अस्तित्व ध्रुव है, चाहे वह दृष्टिगत हो या न हो। यदि वह दृष्टिगत होता है, तो उससे उत्पन्न दोषकी कल्पना

करके हमें उसे त्याग नहीं देना होगा। उसके त्यागसे हमारा दैनिक जीवन-प्रवाह चालू नहीं रह सकता। अतएव चाहे वस्तुतः वह दोष हो, या वैसा हमें अपने दृष्टि-दोषसे प्रतीत होता हो, हमारे लिए स्वकर्मका त्याग कभी अभीष्ट नहीं। भगवान्‌ने कहा है :

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥
(१८.४८)

'अपने कर्म दोषपूर्ण होते हुए भी त्याज्य नहीं हैं, क्योंकि जिस प्रकार अग्नि धुएँसे आवृत है, उसी प्रकार समस्त प्रारम्भ (कर्म) दोषोंसे ढँके हुए हैं।'

अब हमें यहाँ देखना है कि वे शास्त्रविहित कर्म कौन-से हैं, जिनका मानव-स्वभाव, प्रकृति-गुण आदिके अनुसार वर्गीकरण किया गया है? हमारे समाज-धर्मशास्त्री ऋषि-महर्षियोंने मानव-जीवनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके उसके सुचारु सञ्चालनके लिए सम्पूर्ण मानवसमाजको चार श्रेणियोंमें विभक्त किया है : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। समाजको वास्तविक अभ्युदयकी ओर बढ़ानेके लिए सर्वप्रथम आवश्यक यह है कि उसका एक सुशिक्षित, धर्मविद्, सदाचार-शीलादि-गुणसम्पन्न पथ-निर्देशक हो। मानव-जीवनका चरम लक्ष्य भौतिक उन्नतिके साथ-साथ अन्ततोगत्वा उस अनन्तमें समन्वित हो जाना ही है। इस भूमिकातक पहुँचनेके लिए समाजको सत्त्वगुणोंकी नितान्त अपेक्षा है। ब्राह्मण-वर्गकी उत्पत्ति स्वयं भगवान्‌के श्रीमुखसे है और प्रकृतितः उसमें सतोगुणका प्राधान्य है। अतएव समाजका सर्वोत्कृष्ट अङ्ग ब्राह्मण-वर्ग माना गया है। फिर, समाज उस समयतक वास्तविक अभ्युत्कर्षकी ओर नहीं बढ़ सकता, जबतक कि उसमें शान्ति और सुशासन न हो। समय पाकर तमोगुणी वृत्तिके जीव अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए सतोगुणी जीवोंके कार्यमें विक्षेप डालकर समाजमें एक विप्लव उत्पन्न कर देते हैं। इस संघर्षको रोकनेके लिए क्षत्रिय-वर्गको, जिसकी उत्पत्ति उस विराट्‌के बाहुओंसे है और जिसमें प्रकृतितः सतोगुण-मिश्रित रजोगुणका प्राधान्य है, निर्धारित किया गया। इसकी द्वितीय श्रेणी मानी गयी। अब समाजके अभ्युदय और शान्तिस्थापनके अनन्तर उसके भरण-पोषणका प्रश्न आता है। भौतिक-जगत्‌का समस्त कार्य-सञ्चालन अर्थसाध्य है और वह सारा भूमि और पशुरक्षणपर आधृत है। अतएव उसके लिए वैश्य-वर्ग, जिसकी उत्पत्ति विराट्‌पुरुषके उदरसे है और जिसमें तमोगुणमिश्रित रजोगुणकी प्रधानता है, विकासको प्राप्त हुआ। यह तृतीय विभागमें परिगणित हुआ। अन्तिम चतुर्थ शूद्र-वर्गको, जो विराट् पुरुषके अधोभागसे उत्पन्न हुआ और जिसमें तमोगुणका प्राबल्य होता है, परिचर्याका कार्य सौंपा गया। भगवद्वाणीमें ही इसका विवेचन किया गया है :

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥
(१८.४२-४४)

इस प्रकार स्वयं श्रीभगवान् द्वारा गुण-कर्म-विभागसे इन चारों वर्णोंकी सृष्टि हुई और उनके कर्तव्य कर्मोंको तर्कशुद्ध रूप-रेखा हमारे मानव-समाजशास्त्रियोंने निर्धारित की है। स्वयं श्री भगवान् कहते हैं:

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

गुण-कर्म-भेदसे 'चातुर्वर्ण्य'की सृष्टिका हेतु प्रकृतिकी त्रिगुणात्मकता है। कहा भी है:

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ (१८.४१)

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है: सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी। अतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रवर्ग भी उस जीवमात्रव्यापिनी त्रिगुणात्मिका मायासे उत्पन्न गुणोंके आधारपर ही निर्धारित किये गये और इस वर्गीकरणके अनुरूप ही उनके स्व-स्वकर्मोंका विधान किया गया।

मानव-समाजमें इस त्रिगुणात्मक प्रकृतिके विविध गुणोंके सन्तुलनपूर्वक जीवनके सुचारु सञ्चालनके लिए 'स्वधर्म'-'स्वकर्म'के आचरणका शास्त्रोंमें विधान है, इसीसे श्रेयस्-सिद्धि सम्पादित की जा सकती है। पर-धर्म चाहे कितना ही सरल-सुकर हो और स्वधर्म उसकी तुलनामें गुणविहीन और असुकर हो, तो भी वह सर्वथा अवांछनीय और अश्रेयस्कर है। स्वभावनियत स्वकर्म-स्वधर्मसे किसी प्रकारके दोषकी सम्भावना नहीं रहती। गीताकारकी ही वाणी है:

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥ (१८.४७)

इसीलिए स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। (३.३५) स्वकर्मका यह आग्रह जीवनके लिए है। स्वकर्म ही जीवन है एकबार जीवनको त्यागा जा सकता है, पर स्वधर्मको नहीं। 'स्वकर्म' और 'संसिद्धि'का यही रहस्य है।

●

बिखरे रत्न विराट् के !

दीप-दीप के अतुल पुञ्ज को मेरा बारम्बार मनन हो।

अविनश्वर दीपक का घेरा,
उस विराट् सत्ता का प्रेरा,
ज्योतवान् माटी का चेरा,
इसमें ज्योतित स्वयं चितेरा।

सूर्य - चन्द्र - तारे - अनियारे, ज्योतिरिंगणों के पैसारे।
ज्योतिर्मय की किरण-किरण को अर्पित मेरा भाव सुमन हो॥

वह सत्ता जो अजर-अमर है,
जड़-चेतन सबमें भास्वर है,
सत्-चित्-आनन्द का जो घर है,
जो महान् है, विपुल प्रखर है।

गाता युग-युग का प्रतिस्वर है, गति की मति पर न्यौछावर है।
ज्योति-सदन पावन वितान में, तमसासुर नित दमन-शमन हो॥

भीतर-बाहर जगमग करती,
प्रभा - पुञ्ज की विभा बिखरती,
किरण-किरण नित मधुर बिहरती,
दिशा-दिशा आभरण पहरती।

झिलमिल-झिलमिल प्रभा थिरकती, नवजीवन से धरा सँवरती।
नवजीवन के नवलराग पर, चिर विकसित नव-गीत-क्वणन हो॥

—सुश्री कुमारी सुषमा भार्गव, एम० ए०—

नेति: नास्ति : जीवन-दर्शनका ललित विश्लेषण

श्री गोविन्द शास्त्री

★

मैं नहीं जानता कि जिस जडतासे ग्रस्त होता हूँ, वह एक प्रकृति है या मेरे सत्त्वके निश्शेष होनेका चिह्न ? उस सत्त्वका—जिसे जी रहा हूँ अथवा जी रहा था—मेरे साथ चला आ रहा सूत्र शीर्ण हो रहा है, यह प्रकृति है। पर उस पवित्र सत्त्वको मैंने भी भोगा था और वह भोग किस रूपमें ढला ? यह चिन्तन मेरे सामने प्रश्न-चिह्न है। शिवस्वरूप सत्त्वको मैंने अपने आपमें सड़ानेके लिए कैद किये रखा या उसे प्रवाहको समर्पित करके गतिको जीवित रखा—यही व्यर्थता-बोध मुझे जड़ बनाये दे रहा है। व्यक्ति सृजनधर्मा है, क्योंकि उसका व्यक्तीकरण सृजनके ही कारण हुआ। इसलिए समस्त जगत् 'सृष्टि' कहलाता है। सृष्टि, जो नाशमें जनमती और नाशके लिए ही होती है, सृजनसे जुड़ी हुई है। सृजन सृष्टिका रहस्य नहीं, शर्त है। प्रत्येक पल जो समाप्त हो रहा है, नये पलको जन्म दे रहा है। सृजनका विश्वास होनेपर ही कोई प्रयाण करता है। एक क्षणमें से दूसरा क्षण जब जन्म लेने लगता है, तभी पहला क्षण बिदा लेता है। हर निवर्तमान पीढ़ी प्रवर्तमानका गीत गाया करती है। मनुकी इच्छाएँ—लोकार्जन, धनार्जन और पुत्रार्जन—स्थूल और सूक्ष्मके रूपमें उसी शर्तको पूरा करती हैं। इस शर्तके आगे लिङ्गभेद कोई अर्थ नहीं रखता। धर्मशास्त्र सन्ततिहीनताको अभिशाप मानता है। नारी—सृजनका सक्रिय और मूर्तिमन्त प्रतीक—शर्तसे बँधकर मातृत्वकी अनुभूति पहले सहेजती है। हर नारीका सौन्दर्य तभी ढलता है, जब वह नये सौन्दर्यमें उतर आता है। इसका व्यतिक्रम होनेपर नारी अपने जीवनको व्यर्थ समझने लगती है। ऐसा ही व्यर्थता-बोध मुझे हो रहा है।

नया इसलिए जन्म लेता है कि पुरानेको जाना है, अथवा पुराना इसलिए जाता है कि नयेको आना है। किसी भी कोणसे देखा जाय, तथ्य यही रहता है कि सृजन एक शर्त है। नया-पुराना उसीकी व्यवस्था है। इस शर्तसे कोई मुकर नहीं सकता। मुकरनेसे क्रम नहीं टूटता, पर वह इकाई अपने आपसे विश्वासघात करती-सी लगती है, जो इस समग्रसे जुड़ी हुई है।

लोग कहते हैं। कल्पनाशील मस्तिष्क जब-जब किन्हीं अन्ध-गुफाओंमें बन्द हो जाता है तो वह सोचने-गुनने लायक कोई विषय नहीं ढूँढ़ पाता। इस स्थिरता किंवा जड़ताके दौरमें मनमें वह कसक नहीं होती, जो विमोचन या विसर्गके समय हुआ करती है। ऐसे क्षण जब खिंचते चले जाते हैं, तो मुझे बड़ी अकुलाहट होती है। मैं समझता हूँ कि मैं अपने ही साथ

विश्वासघात कर रहा हूँ, उस विराट्‌के विरुद्ध छिपे-छिपे कोई दुरभिसन्धि कर रहा हूँ। प्रश्न लिखनेका नहीं, उस सूक्ष्म जगत्‌का है जिससे मैं बँधा हुआ हूँ। प्रश्न उस शर्तका है, जो मेरे जीवनके साथ जुड़ी हुई है। लिखना बुद्धिवादीके जीवनका लक्षण है, लिखना उस शर्तका पालन है। लिखना धाराके अनुकूल है या प्रतिकूल, जो लिखा गया वह युगके और वास्तविकताके अनुरूप है या नहीं—ये सारी स्थितियाँ बहुत सारी अपेक्षाओंसे जुड़ी हुई हैं। लिखा जाय, ईमानदारीके साथ लिखा जाय। वह युगके अनुकूल है या नहीं, इसका कोई महत्त्व नहीं; पर लिखनेके पहले पढ़ा जाय, पढ़कर सोचा जाय। इन दो स्थितियोंसे भिन्न एक तीसरी स्थिति भी होती है जिसे मैं अनुभव कर रहा हूँ—सम्भव है, दूसरे भी अनुभव करते हो। वह है—शून्यता, जडता।

इस प्रकारके शून्यसे सृजनशील घबरा जाता है। ऐसे जडत्वसे वह त्रस्त हो जाता है। यदि यह जडता ही जीवन बन जायगी तो फिर जीवनका अर्थ क्या होगा? इस जडतासे उबरनेके लिए लोग नियमित लिखने लगते हैं। नियमित लिखना उसी जडताका पराङ्‌मुखी बोध है। जबतक कोई भीतरसे आनेको छटपटाता नहीं, तबतक शब्दोंकी सरिता भागीरथीका पतितपावन स्वरूप ग्रहण नहीं कर पाती। ऐसी परिस्थितिमें यह लेखन मस्तिष्कका नियमित व्यायाम मात्र रह जाता है। इसमें शब्द अपना अर्थ खो देते हैं, परिस्थितियाँ अपने आयाम खो देती हैं। लिखना एक बात है और लिखनेके लिए लिखना दूसरी बात—बिलकुल दूसरी बात। साधारण व्यक्तिके लिए कृतिको या रचनाकारकी सृष्टिको नापनेका यही आयाम है कि कौन-सी कृति निरायास मनकी परतोंको छूती चली जाती है और कौन-सी आयास करनेपर भी भीतर प्रवेश नहीं कर पाती। स्वनामधन्य रचनाकारोंकी निःसत्त्व कृतियाँ अभ्यासके समर्पित होकर मात्र व्यावसायिकता बन जाती हैं।

निर्मलने कहा था—अर्थ हमारा साध्य नहीं हो सकता, पर वह कौन-सी चीज है जिसे पानेके लिए हम तड़प रहे हैं; वह कौन-सी मञ्जिल है जिसे हम नहीं जानते, पर जिसके लिए हर मुकामको छोड़कर चल देते हैं? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका कोई उत्तर नहीं हो सकता, जिसका कोई भी उत्तर हो सकता है। सम्भव है, किसीने अपने विश्वासके आधारपर इस प्रश्नका उत्तर पा लिया हो; पर यह कल्पित धारणा थी, उत्तर नहीं। उत्तर हो ही नहीं सकता ऐसी स्थितिका। यह खोज जडतापर रुकती है और चल देती है। यह प्रश्न शून्य से टकराता और आगे बढ़ जाता है। राजनैतिक क्रान्तियाँ, सामाजिक परिवर्तन, धार्मिक चिन्तन और दार्शनिक प्रकार ये सारे अलक्षित आवर्त शून्यमें से होकर गुजरते हैं, जिसकी प्रतिध्वनि कुछ उत्तरके रूपमें सुनायी पड़ती है। दर्शनकी परम्परा और धर्मकी सिद्धि नेति-नास्तिको प्राण मानकर चलती है। नास्ति धर्मका माप है और नेति दर्शनको गति प्रदान करनेवाला तत्त्व। अस्ति और इतिके साथ जुड़ा हुआ नकार निषेध नहीं, बल्कि अप्राप्तकी दिशाके प्रति अंगुली-निर्देश है। इस निषेधका भावार्थ सन्तुष्टि नहीं, गतिका विराम नहीं और न सृजनका व्यतिक्रम ही है। प्रत्युत अज्ञातकी प्राप्तिका निमन्त्रण और प्राप्तव्यका आकर्षणमात्र है।

गति सदा निषेधकी रेखाओंपर चलती है, प्रवाह अवरोधोंका कृतज्ञ रहता है, नदी घुमावोंका मनुहार करती है इसलिए व्यक्तिके इतिहाससे नेति-नास्तिको हटाया नहीं जा सकता। इतिहास एक क्षणको अपनी इतिपर इठलाता है, तो उसमेंसे नकार उठता है और व्यक्तिके चरण चल पड़ते हैं किसी अज्ञात दिशाकी ओर, जिससे इतिहासका अव्यक्त क्रम उभरनेको आतुर हो उठता है। यथार्थतः अस्तिका अल्पविराम नास्तिसे दूसरे वाक्यका प्रारम्भ करता है। इतिकी उपलब्धि नेतिके सामने हीन हो जाती है, तो किसी गुरुतरको पाने चल पड़ती है। यद्यपि अस्तिका अनुभव व्यक्तिको पहले हुआ, इसमें कोई सन्देह नहीं। अस्तिने नास्तिको ढूँढा, यह भी उतना ही सत्य है जितनी अस्तिकी प्रथम-जन्मता। अस्ति बाह्यसे उपजा और अन्तस्तलतक उतर गया। वह सत्य जो बाह्य और आभ्यन्तरमें अनुस्यूत था। वह अस्तिसे तृप्त नहीं हो सकता था। वह पूर्ण था, विराट् था और था अव्याहृत। इसलिए वह प्रत्येक अस्तिको नकार जाता था। इस महायात्राका आजतक एक ही फलितार्थ निकलता आया : 'नेति' और 'नास्ति'। यथार्थमें नास्ति में चुनौती है, समर्पण नहीं। नेति में विराम नहीं, इतिका मूल्यांकन है। लेखकीय जडता और चिन्तनका शून्यत्व भी ऐसे ही नकारकी समवर्ती स्थितियाँ हैं।

सप्राणतामें, सचेतन चिन्तनमें गतिकी कोई परिभाषा नहीं हुआ करती, प्रवाहका कोई मापदण्ड नहीं हो सकता। गति नकारसे बल प्राप्त करती है। प्राप्तका सम्मान करना इतिहास जानता है। सिद्धिको सहेजना गतिका धर्म होता है, पर वह गतिकी चरम सार्थकता नहीं। इसलिए व्रतबद्ध-सी गति अपने धर्मसे च्युत नहीं होती, आत्मघात नहीं करती। वह शाश्वत बने रहनेके लिए चल पड़ती है। यही धर्मकी भाषामें नास्ति है, इसीको दर्शनकी पारिभाषिक शब्दावलीमें नेति कहा जाता है। प्राप्त और प्राप्तव्यकी दूरी ही गति है, 'चरैवेति'का अर्थ है नेति, नास्ति। अनागत सदा अनागत रहता है, क्योंकि उसके आकर्षणके कारण गति मन्त्रविद्ध-सी चलती रहती है। एक प्राप्तको नकारसे रेखांकित करके किसी दूसरे गन्तव्यकी ओर चलनेकी दिशा इन नकारोंसे स्थिर होती है।

व्यक्तिकी ऐतिहासिक यात्रा इस बातका प्रमाण है कि निषेधोंने विधेयका मार्ग प्रशस्त किया है। कंस और रावण इति थे। इन प्रतीकोंने गतिको अवरुद्ध करनेका संकल्प लिया था और विश्वके समग्रको अपने रूपमें इति-अस्ति से रेखांकित, सीमाबद्ध करनेका दुस्साहस किया था। इसलिए युगपुरुषने नेति और नास्ति के रूपमें दूसरे युगको प्रवर्तित होनेके लिए मार्ग दिया। राम और कृष्णने इति और अस्ति का मूल्यांकन किया और युग आगे बढ़ चला। जिसने गतिको विरत कर देनेकी चेष्टा की, उसीको रौंदकर गति आगे बढ़ गयी। गतिसे जनम कर, सृष्टिके इधर-उधर रहकर कोई शर्तको तोड़ नहीं सकता, गतिको रोक नहीं सकता। जिस क्षण गति रुकेगी, सृष्टिके क्रममें विक्षेप आयेगा। वह क्षण अत्यन्त भयंकर होगा। उस परम

सत्ताको महाकाल बनकर इस कार्यव्यापारको समेटना होगा। पर यह विराम भी कोई आत्यन्तिक बात नहीं हो सकती। गतिको फिर अवतार लेना पड़ेगा, विश्वको फिर सृष्टिका कुहुक सुनाई देगा। गतिके अन्तमें आनेवाला महाशून्य फिर नेति से चलेगा और वह अवरोध शतधा-सहस्रधा होकर गतिको मार्ग दे देगा।

मेरी यह जड़ता भी कुछ ऐसी ही प्रक्रिया है। जीवनके हर क्षेत्रमें व्यक्ति जब मूल्यांकन करता है तो उसे इति से सन्तोष मिलता है, क्योंकि उससे अधिक मोहक-उज्ज्वल किसी और-का आकर्षण उसे अपने आपमें अनुभव होता है और वह नकार जाता है, आगे चल पड़ता है। सृष्टिमें इतिका कोई स्थान नहीं, गतिमें तुष्टिको अवकाश नहीं। ये निषेध, ये नकार जड़बोध हैं, शून्य हैं जिनमें होकर चेतन गुजरता है, जिनके अस्तित्वके कारण चेतनता, गति, प्राण है। यह बड़ा कठिन है कि जड़-चेतनके बीच, गति-स्थिरताके बीच कोई स्थायी रेखा डाल दूँ। जड़ चेतनसे विरुद्ध होकर भी उससे अनुस्यूत है, जिस तरह दिनके उजालेसे रातका अँधेरा जुड़ा हुआ रहता है।

जिस जड़ताका मैं शिकार हूँ, उसमें इतना मान लेनेमें कोई संकोच नहीं होता कि मैं सृजनसे विरत हो गया हूँ—सृजन, जो गतिकी सार्थकता है, सृजन जो शर्त है। यह शून्य दोनों ही तरहका होता है: प्राप्तको सहेजने जैसा भी और अप्राप्तका आभास करने जैसा भी। इसलिए यह गतिका ही पर्याय होता है, सृजनकी ही भिन्न स्थिति होती है। सारा जीवन किसी एक ही प्रकारके सृजनका प्रतीक नहीं हो सकता, व्यक्ति यावज्जीवन किसी ऋणको चुकानेके लिए रेहन रखी जिन्दगी नहीं जी सकता। उसे अपने स्व से भी लगाव होना चाहिए, लगाव होता है। लेखकीय शून्य और रचनाकारकी जड़ता कभी उसको कचोटती है, तो कभी चिन्तनकी साक्षी बनकर निषेधोंके रूपमें मुखर होती है। हर जड़ने चेतनको प्रसार पानेकी प्रेरणा दी है, हर निषेधने विधेयको निखारा है।

●

माधुर्यका सच्चा आस्वाद कहाँ ?

माधुर्यका वास्तविक आस्वादन तो श्रीभगवान्के रूप-लावण्यमें ही सन्निहित है। श्रीभगवान्का स्मरण होते ही रसनापर अगणित धन्वन्तरि अमृत-कलश लेकर नाचने लगते हैं, कण्ठपर कोटि-कोटि शेष, शारदा और नारद नाम-ध्वनिकी भागीरथीमें आत्म-विभोर हो उठते हैं, हृदयमें असंख्य क्षीरसागरोंपर असंख्य नारायण भगवदीय केलिकी वारुणी पीकर जन्म-जन्मकी साधना सफल कर लेते हैं।

●

परमात्माका हाथ

श्री हरिकिशनदास अग्रवाल

जीव परमात्माके लिए एक कदम आगे बढ़ता है, तो परमात्मा उसके लिए १० कदम आगे आता और उसे अपने हाथोंमें ले लेता है। यदि हम बच्चोंकी तरह सरल शुद्ध और निर्बल हो जाते हैं, तो हमारा टूटा-फूटा साधन भी परमात्माके मिलनेमें सहायक हो जाता है।

किसी एक गाँवका एक गँवार मन्दिरमें प्रार्थना कर रहा था, उसे भलीभाँति बोलना भी नहीं आता था। वह शब्दोच्चारणमें भी अयोग्य था। फिर भी वह अपने शुद्ध हृदयसे टूटे-फूटे शब्दोंमें परिपूर्ण प्रार्थना कर रहा था। उसकी आँखोंसे परमात्माके निश्छल प्रेमवश अश्रुधारा बह रही थी।

उसे एक पण्डित, जो उसी मन्दिरका पुजारी था, देख रहा था। वह भोला-भाला व्यक्ति जब प्रार्थना करके लौटने लगा, तो पण्डितने उसे बुलाकर डाँटा और कहा : 'तुम्हें शुद्ध प्रार्थना करने नहीं आती ! मेरे पास आया करो, मैं तुम्हें प्रार्थना सिखा दूँगा।'

वह पण्डितके पास आया और उसने पुजारीकी बतायी प्रार्थना कण्ठस्थ कर ली। परिणाम यह हुआ कि अब जो वह मन्दिरमें आता, तो उस रटी-रटायी प्रार्थनाको तो कह पाता, किन्तु वे शब्द उसके हृदयके न होकर दूसरेके थे, इस कारण उनके कहते समय उसके हृदयका वह प्रेम और गद्गद कण्ठ नहीं होता था। सीखी हुई प्रार्थना प्रार्थना नहीं होती, वह तो अपने मनसे की जाती है।

हम लोगोंका भी प्रायः यही हाल है कि हम सीखी-सिखायी या रटी-रटायी प्रार्थनाएँ बोल देते हैं, जिसमें किसी प्रकारका हमारे हृदयका भाव नहीं होता। हमारा मन कहीं होता है और मुँह रटे-रटाये शब्द बोलता रहता है। परमात्मा अन्तर्यामी है, वह यह नहीं देखता कि मनुष्य क्या बोल रहा है। वह तो यह देखता है कि किस हृदयसे बोल रहा है? उसके दिलमें क्या भाव है? हृदयसे की हुई प्रार्थना फलीभूत होती है, हृदयशून्य प्रार्थना कोई अर्थ नहीं रखती।

बहुतसे साधकोंने यह अनुभव किया है कि जब हम बालकोंकी तरह सरल हो परमात्माके वियोगमें छटपटाने लगते हैं, आँखोंसे अश्रुजल बहने लगता है, सर्वात्मना भगवान्‌के भावमें विभोर हो जाते हैं, तो उस समय हमारे हृदयके पट खुल जाते हैं। रोनेसे बढ़कर हृदय धोनेका दूसरा कोई साधन नहीं। भावुक भक्त और बच्चेका हृदय साबुन या पानीसे नहीं, अश्रुओंकी धारासे शुद्ध होता है।

कभी-कभी तो हृदय दान-पुण्य और शुभकर्म करनेसे भी शुद्ध नहीं होता, क्योंकि दान-धर्म, शुभकर्म आदिका अहंकार जब हम अपने ऊपर लाद देते हैं, तो वे बजाय अन्तःकरणकी शुद्धि करनेके अशुद्धिके ही कारण बन जाते हैं।

अगर हम बच्चेकी तरह सरल-सहज और स्वाभाविक हो जाय तथा परमात्माके लिए सच्चे मनसे छटपटायें, तो परमात्मा आगे बढ़ अपने हाथोंसे ऊठाकर निश्चय ही हमें अपने हृदयसे लगा लेगा। ●

गर्ग-संहिता : एक अध्ययन

श्री प्रभुदयाल मीतल

★

'गर्ग-संहिता' भगवान् श्रीकृष्णसे सम्बद्ध पौराणिक शैलीका एक वृहत्तम ग्रन्थ है, जो श्री गर्गाचार्यके नामसे उपलब्ध होता है। इसके माहात्म्यमें गर्गजी की वन्दना करते हुए उन्हें वृष्णिवंशीय और श्रीकृष्णके कुलका आचार्य, महात्मा एवं कवीश्वर बतलाया गया है।[1] उन्हें वृष्णिवंशीय यादवोंका आचार्य और कुल-पुरोहित नियुक्त किया गया था। उन्होंने कृष्ण-बलरामके सभी संस्कार कराये। वे श्रीकृष्णके समकालीन और आयुमें उनसे बहुत बड़े थे। वर्तमान कालके इतिहासकार उन्हें वि०पू० की प्रथम शताब्दीका अर्थात् शुंग-कालका मानते हैं। गर्गाचार्य चाहें कृष्णकालमें हुए हों, चाहे शुंग-कालमें; किन्तु उनके नामसे प्रसिद्ध यह 'गर्ग-संहिता' १६वीं शताब्दीसे पूर्वकी रचना नहीं है। अतएव यह निश्चय ही किसी अन्य विद्वान्की कृति है। इसके अन्तःसाक्ष्यसे ऐसा अनुमान होता है कि इसे मिथिलाके किसी अनुपम प्रतिमा-शाली पंडितने रचा होगा। यह ग्रन्थ सरल संस्कृत भाषामें है, और व्रजभाषा-टीका सहित प्रकाशित हो चुका है। इसके टीकाकार कोई पंडित वंशीधर थे, और इसके प्रकाशक मथुराकी मण्डी, रामदास मुहल्लेमें रहनेवाले मु० कन्हैयालाल वंशीधर भार्गव हैं। इसे खुले पत्राकारमें मुरादाबादके लक्ष्मीनारायण-प्रेसने मुद्रित किया, जो लाला श्यामलालजीके श्यामकाशी-प्रेस, मथुरासे प्राप्त होता था। इस समय यह ग्रन्थ दुष्प्राप्य है।

इसमें १० खण्ड हैं, जो पृथक्-पृथक् पुस्तकोंके रूपमें छापे गये और उन सबको बादमें सम्मिलित भी कर लिया गया। इन खण्डोंके नाम, इनके अध्याय तथा मुद्रित पत्रोंकी संख्या इस प्रकार है।

खण्डोंके नाम	अध्यायोंकी संख्या	पत्रोंकी संख्या
१. माहात्म्य खण्ड	४	११
२. गोलोक खण्ड	२०	७०
३. वृन्दावन खण्ड	२३	७०
४. गिरिराज खण्ड	११	२७
५. माधुर्य खण्ड	२४	५०
६. मथुरा खण्ड	२५	७८
७. द्वारका खण्ड	२१	६२
८. विश्वजित् खण्ड	५७	१४८
९. बलभद्र खण्ड	१३	३६
१०. विज्ञान खण्ड	१०	२३
कुल जोड़	२०८	५७५

१. वृष्णीनां कृष्णदेवानामाचार्याय महात्मने।
श्रीमद्गर्ग-कवीशाय तस्मै नित्यं नमो नमः॥

उपर्युक्त विवरणसे विदित होता है कि इसका विश्वजित् खण्ड सबसे बड़ा है। उसके बाद क्रमशः मथुरा, वृन्दावन, गोलोक और माधुर्य नामक खण्ड हैं। बलभद्र, गिरिराज और विज्ञान नामक खण्ड क्रमशः एक-दूसरेसे छोटे हैं। माहात्म्य खण्ड सबसे छोटा के.ल ४ अध्यायों-का ही है। दसों खण्डोंके अध्यायोंकी कुल संख्या २०८ है। पत्रोंकी संख्या ५७५ और कुल श्लोकसंख्या १२००० है। इस प्रकार यह एक वृहद् ग्रन्थ है। कृष्ण-भक्तिसम्बन्धी पौराणिक शैलीको रचनाओंमें यह सबसे विशाल और कदाचित् सबके बादकी रचना है।

इस वृहत् ग्रन्थमें श्रीकृष्णकी माधुर्यमयी और ऐश्वर्यपूर्ण सभी प्रकारकी लीलाओंका अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसमें गोलोक, वृन्दावन, मथुरा, यमुना और गिरिराजकी महिमाके साथ ही साथ वृन्दावनमें होनेवाली राधा-कृष्णकी मधुर लीलाओंका तथा मथुरा-द्वारकामें किये हुए कृष्ण-बलरामके ऐश्वर्यपूर्ण चरित्रोंका सर्वांगपूर्ण कथन हुआ है। यह श्रीकृष्ण-भक्तिका अन्यतम ग्रन्थ है। इसकी रचना 'महामुनि नारद एवं मिथिलेश-बहुलाश्व'के संवादरूपमें हुई है। ब्रह्मवैवर्त-सहित समस्त पुराणों; सनत्, वशिष्ठ, पुलस्त्य, याज्ञवल्क्य और पाराशर-संहिताओं, यहाँतक कि गोपालसहस्रनामकी भी रचना हो जानेके उपरान्त तथा कृष्ण-भक्तिका देशव्यापी प्रचार और गोवर्धन, वृन्दावन एवं श्रीनाथजीको महत्ता स्थापित होनेके अनन्तर यह ग्रन्थ रचा गया है। इसके माधुर्य खण्डमें जहाँ विविध प्रदेशोंकी गोपियोंका वर्णन है, वहाँ मैथिल प्रदेशकी गोपियोंका सर्वप्रथम उल्लेख किया गया है। इससे अनुमान होता है कि इस ग्रन्थका रचयिता कोई मिथिलानिवासी विद्वान् पंडित होगा। इसकी रचना भी १६वीं शताब्दीके पश्चात् ही होना सम्भव है। कृष्ण-भक्तिविषयक रचनाओंमें इसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि इसमें गोलोक और राधाकी महिमाके कथनके साथ ही मथुरा और द्वारकामें किये गये कृष्ण-चरित्रसे सम्बद्ध विविध युद्धोंका तथा प्रद्युम्नकी दिग्विजयका वीरतापूर्ण विशद वर्णन भी किया गया है। यह वर्णन कृष्णकी माधुर्यमयी लीलाओंसे सम्बद्ध पुराणादि ग्रन्थोंमें प्रायः नहीं मिलता। यहाँ इसके विविध खण्डोंका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

१. माहात्म्य खण्ड : श्री गर्गाचार्यकी वन्दनाके अनन्तर महादेव-पार्वतीके संवादसे इसका आरम्भ होता है। महादेवजीने बतलाया कि नारदके उपदेशानुसार गर्गने राधा-माधवकी महिमा-सूचक इस संहिताकी रचना की। पार्वतीजीने कहा : "आपने पहले मुझे 'गोपालसहस्र-नाम' सुनाया था, अब इस संहिताको भी सुनाइये।" इसपर महादेवजीने कहा : "इस संहिताकी कथा नारदने मिथिलेश बहुलाश्वको और शांडिल्यने मथुराके राजा वज्रके पुत्र प्रतिबाहुको सुनायी थी। प्रतिबाहुके कोई सन्तान न थी, इसलिए शांडिल्यने यह कथा सुनायी। इसके श्रवणसे प्रतिबाहुको सुबाहु नामक यशस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। इसके श्रवणका फल पुत्र-प्राप्तिके साथ ही धन, वाहन, यश, राज्य, सौख्य और मोक्षकी भी प्राप्ति है। यह माहात्म्य 'सम्मोहनतन्त्र' में हर-गौरी-संवादके रूपमें है। इस प्रकार यह खण्ड वस्तुतः 'गर्गसंहिता' का अंश नहीं है। पाठकोंको कथाकी परम्परा बतलानेके लिए इसे प्रस्तुत रचनाके साथ सम्मिलित किया गया है।

२. गोलोक खण्ड : ग्रन्थका आरम्भ इस खण्डसे होता है। पहले महाभारतका आरम्भिक वन्दनात्मक श्लोक[1] दिया गया है। फिर कथाका आरम्भ करते हुए बतलाया गया है कि 'एक समय गर्गमुनि शौनकजीसे मिलने नैमिषारण्य गये। शौनकने विधिवत् पूजा करनेके अनन्तर गर्गजीसे पूछा : 'भगवान्‌के कितने अवतार हैं और वे क्यों होते हैं ?' गर्गजी-ने उत्तर दिया : 'ऐसा ही प्रश्न एकबार मिथिलाके राजा बहुलाश्वने नारदजीसे किया था। बहुलाश्व भगवान् कृष्णका परम भक्त था। नारदजीने उसे प्रसन्नतापूर्वक बतलाया कि भगवान्‌के अनेक अंश (कला) अवतार हैं, किन्तु श्रीकृष्ण पूर्ण-अवतार हैं। वे स्वयं भगवान् हैं : कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्। उन्होंने कहा : 'जब पृथ्वी दुष्टोंके भारसे दबने लगी, तब गो-रूपमें वह ब्रह्माजीकी शरण गयी। ब्रह्माजी महेशके पास और महेश विष्णुके पास गये। फिर सब मिलकर गोलोक-धाममें कृष्णके पास पहुँचे।'

इसके आगे गोलोक-धामका बड़ा अद्भुत वर्णन किया गया है। उसमें बतलाया है कि गोलोकमें गोवर्धन, वृन्दावन, रासमण्डल, कालिन्दी नदी, वंशीवट आदि हैं। वहाँ गोपियोंके समुदाय-सहित राधाजी और श्रीकृष्ण विराजमान हैं। देवताओंने श्रीकृष्णकी वन्दना कर उनसे अपना अभिप्राय कहा। श्रीकृष्णने कहा : 'तुम देवतागण व्रजमें जन्म लो और मैं भी वहाँ जन्म धारण करूँगा।' जब राधाने कृष्णके उक्त वचन सुने, तो वे वियोगकी आशंकासे व्यथित हुईं। कृष्णने उनसे कहा : 'वे भी व्रजमें अवतार लें।' जब राधाजीने कहा : **यत्र वृन्दा-वनं नास्ति यत्र नो यमुना नदी। यत्र गोवर्धनो नास्ति तत्र मे न मनः सुखम्॥** 'जहाँ वृन्दावन नहीं, जहाँ हमारी प्यारी यमुना नदी नहीं और न जहाँ गोवर्धन गिरिराज हो, वहाँ हमारे मनको सुख कहाँ ?' तब श्रीकृष्णने गोवर्धन पर्वत, यमुना-नदीसहित ८४ कोस व्रजभूमिको पृथ्वीपर प्रेषित किया।

तदुपरान्त सब देवताओंने गोपोंके रूपमें व्रजमें अवतार लिया। फिर कंसके जन्म और उसकी दिग्विजयका वर्णन है। तदनन्तर राधा, बलदेव और कृष्णके जन्म, नन्दोत्सव, पूतना-वध, तृणावर्त-वध, राधिका-विवाह, कृष्णकी बाल-लीला, दधि-चोरी, मृत्तिका-भक्षण और यमलार्जुन-मोक्षकी कथा है।

'ब्रह्मवैवर्त-पुराण'की भाँति 'गर्गसंहिता'के इस गोलोक खण्डके १६वें अध्यायमें राधाजीके साथ श्रीकृष्णके विवाहका वर्णन है। यह विवाह भांडिर-वनमें हुआ था और इसे स्वयं ब्रह्माजीने वैदिक रीतिसे कराया।

३. वृन्दावन खण्ड : इसमें बतलाया गया है, जब कंसने महावनमें अनेक उत्पात कराये, तब वहाँसे गोपगण श्रीकृष्णसहित वृन्दावनको चले गये। यहाँ वृन्दावनका विशद वर्णन किया गया है। श्रीमद्भागवतकी भाँति इसमें भी बतलाया है कि वृन्दावनमें यमुना नदीके साथ गोवर्धन पर्वत भी है। मथुरा-माहात्म्य, गोवर्धनकी उत्पत्ति, यमुनाके आगमनकी

---

१. ॐ नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥

कथाके अनन्तर, वत्स-बक-अघ-धेनुकके वध और कालिय-दमनकी कथा है। यहींपर राधा-कृष्णका प्रेम और रासका भी वर्णन है। रासका वर्णन अध्याय १६ के श्लोकसंख्या १ से ४१ तक किया गया है। इस रासकी तिथि वैशाख शुक्ला ५ बतलायी गयी है।

४. गिरिराज खण्ड : इसमें गोवर्धन-पूजा, इन्द्र-कोप, गोवर्धन-धारण, गिरिराज-विभूति, गिरिराजोत्पत्ति और गिरिराज-माहात्म्य वर्णित है।

५. माधुर्य खण्ड : इसमें श्रुतिरूपा गोपियोंका वर्णन किया गया है, जिसमें मिथिला, कोशल, अवध आदि प्रदेशोंके साथ ही साथ पुलिंद, शोणपुर आदि देशोंकी भी गोपियोंका कथन है। इसके उपरान्त प्रलम्ब, व्योम और अरिष्ट नामक असुरोंके वधकी कथा है। इस खण्डको एक विशेषता यमुनाजीके पंचांग : १. पटल, २. पद्धति, ३. कवच, ४. स्तोत्र और सहस्रनामका कथन है। 'यमुनासहस्रनाम' इस खण्डके १९वें अध्यायमें वर्णित है।

६. मथुरा खण्ड : इसमें अक्रूरके साथ श्रीकृष्ण-बलरामका मथुरा आना और कंसका वध करना वर्णित है। इसके नवम अध्यायके १२वें श्लोकमें लिखा है कि वसुदेवजीने गर्गाचार्यको बुलाकर उनके द्वारा कृष्ण-बलरामका विधिपूर्वक यज्ञोपवीत कराया और फिर उन्हें सांदीपनि गुरुके पास विद्याध्ययनके लिए भेजा। १३वें श्लोकमें लिखा है, कृष्ण-बलरामने गुरुकी भलीभाँति सेवा की और थोड़े ही कालमें उनसे समस्त विद्याएँ पढ़ लीं। यहाँ सांदीपनिके निवास-स्थलके रूपमें उज्जैनका नामोल्लेख नहीं किया गया है। फिर श्रीकृष्णके आदेशानुसार उद्धव व्रजवासियोंकी सुध लेने व्रजमें जाते हैं। वहाँकी दयनीय दशा देखकर वे इतने द्रवित होते हैं कि मथुरा वापस आकर श्रीकृष्णसे प्रार्थना करते हैं कि वे एकबार पुनः व्रजमें जाकर वहाँके निवासियोंको सुखी करें। इसपर मथुराका राजकीय उत्तरदायित्व बलदेवजीको सौंपकर श्रीकृष्ण भी उद्धवके साथ व्रजमें गये। वे गोवर्धन, गोकुल, वृन्दावन देखते हुए यमुना-पुलिन-पर आये। उस समय जो गायें वहाँ चर रहीं थीं, वे दौड़कर उनके निकट आ गयीं। कृष्णने सब गायोंका नाम ले-लेकर उन्हें पुचकारा और प्रेमसे उनपर हाथ फेरा। सब गोप-ग्वालोंने उन्हें घेर लिया। श्रीकृष्ण सब ग्वाल-बालोंसे प्रेमपूर्वक गले मिले। उनके आगमनका समाचार सुनकर नन्द-यशोदा, वृषभानु-कलावती, सखियोंसहित राधा और समस्त गोपियाँ एवं गोपवृन्द उनके पास एकत्रित हो गये। उनसे मिल-भेंटकर वे सब परम आनन्दित हुए।

इसी खण्डके २०वें अध्यायमें लिखा है कि सायंकालको वृषभानुनन्दिनी राधाने श्रीकृष्णको अपने निवास-स्थलपर बुलाया। जबसे श्रीकृष्ण मथुराको गये, तबसे राधाने एक दिन भी शृङ्गार नहीं किया था। उस समय प्रथमबार उन्होंने शृङ्गार किया और बड़ी प्रसन्नतासे श्रीकृष्णका आदर-सत्कार किया। उन्होंने रो-रोकर अपनी विरह-व्यथाकी कथा उन्हें सुनायी और उपालम्भपूर्वक उनसे पूछा : 'आखिर मधुपुरी ऐसी कितनी दूर है कि आप एक दिनको भी यहाँ नहीं आ सके? उद्धवजीको मैं धन्यवाद देती हूँ कि उन्होंने आपके दर्शन करा दिये।' इसपर श्रीकृष्णने राधाजीसे कहा :

मा शोकं कुरु राधे त्वं त्वत्प्रीत्याऽहं समागतः।
आवयोर्भेदरहितं रूपमेकं द्विधा स्थितम्॥
यथा हि दुग्ध-धावल्ये तथाऽऽवां सर्वदा शुभे।
यत्राऽहं त्वं सदा तत्र विश्लेषो नहि चाऽऽवयोः॥

'हे राधे ! तू शोक मत कर, मैं तेरी प्रीतिसे ही यहाँ आया हूँ। मुझमें तुझमें कुछ भेद नहीं है। जैसे दूधसे सफेदी अलग नहीं है, वैसे ही मेरा-तेरा संयोग है। जहाँ मैं हूँ, वहाँ तू हैं; जहाँ तू है, वहाँ मैं हूँ। मेरा-तेरा वियोग कदापि सम्भव नहीं।' यह सुनकर राधा प्रसन्न हो गयी। उसके बाद श्रीकृष्णने कार्तिककी पूर्णमासीको राधा और गोपियोंके साथ रास किया। इस प्रकार कुछ दिन व्रजमें रहकर श्रीकृष्ण मथुरा वापस चले गये। इस खण्डके अन्तमें 'मथुरा-माहात्म्य' है, जो कदाचित् 'वाराह-पुराण'के अनुसार है।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि श्रीकृष्णके इस प्रकार पुनः व्रजमें जानेका वर्णन किसी भी पुराणमें नहीं है। केवल इस 'गर्गसंहिता'में ही इस प्रकारका कथन किया गया है।

७. द्वारका खण्ड : इसमें जरासंधके साथ युद्ध और कालियवन-वधका उल्लेख कर श्रीकृष्णके द्वारका-वासका वर्णन है। वहाँ बलदेव और श्रीकृष्णके विवाह होते हैं। इसके साथ ही श्रीकृष्णके राजकीय स्वरूपसे सम्बद्ध प्रसिद्ध घटनाओंके अतिरिक्त उस प्रदेशमें राधा-कृष्णके पुनः मिलनका भी उल्लेख किया गया है। उसके सम्बन्धमें लिखा है कि एकबार राधाजी अपनी सखियोंसहित आनर्त (प्राचीन गुजरात) प्रदेशके श्रद्धाश्रम तीर्थमें सूर्यपर्वके अवसरपर स्नानार्थ गयी थीं। वहाँ श्रीकृष्ण और पाण्डव भी अपने परिवारसहित आये थे। उस समय राधा-कृष्णका मिलन हुआ। श्रीकृष्णकी पत्नियोंने उनसे कहा कि 'वे राधा-गोपियोंके साथ वैसा ही रास करें, जैसा वे व्रजमें किया करते थे'। इसपर वहाँ वैशाख मासकी पूर्णमासीको पूर्ण चन्द्रोदयकी शुभ्र-ज्योत्स्नामें रासका आयोजन किया गया।

८. विश्वजित् खण्ड : इसमें उग्रसेनके राजसूय-यज्ञका आयोजन और उसके निमित्त कृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न द्वारा दिग्विजय करनेका अत्यन्त विस्तृत और वीरतापूर्ण वर्णन है, जो इस ग्रन्थकी सबसे बड़ी विशेषता है। इस प्रकारका कथन कृष्ण-चरित्रसम्बन्धी किसी अन्य ग्रन्थमें नहीं किया गया है।

९. बलभद्र खण्ड : इसमें बलदेवावतारके वर्णनके साथ श्रीकृष्णके जन्म और उनके द्वारा व्रज, मथुरा एवं द्वारिकामें की गयी लीलाओंका पुनः कथन किया गया है। इनके अतिरिक्त इस खण्डमें 'बलभद्र-पद्धति पटल', 'बलभद्र-स्तोत्र-कवच' तथा 'बलभद्र-सहस्रनाम' भी हैं। इस खण्डके नवम अध्यायमें लिखा है कि एकबार बलदेवजी द्वारिकासे व्रजको गये थे। वहाँ वे सभी व्रजवासियों एवं गोप-गोपियोंसे मिले थे। उन्होंने वहाँ चैत्रकी पूर्णमासीकी रात्रिमें गोपियोंके साथ रास भी किया था। रासके उपरांत स्नान करनेके विचारसे उन्होंने यमुनाको अपने निकट बुलाया, किन्तु वह नहीं आयी। इसपर बलदेवजीने क्रुद्ध होकर उन्हें

बन आजु हौं गाय चरावन जइहौं

माँगन हू पर देत न रोटी
सुनौ हम दूध सों नाहीं अघइहौं
माखन दै गठिआय कछु
जब लागी है भूखि तौ छोरि के खइहौं
तैं जननी जनि सोच करौ
हम साँझ परे निहचै घर अइहौं
मायरी लाय दै तैं लकुटी
बन आजु हौं गाय चरावन जइहौं।

काहुन को न कहैंगे कछू
चाहे कोऊ हमैं कितनी ललचइहौं
भूलि न जाय कहूँ पथ आपन
मारग जात हौं रेख खचइहौं
पाँयरी लागत भेरि सुभायत
गइयन पै नहि हाथ उठइहौं
मायरी लाय दै तैं लकुटी
बन आजु हौं गाय चरावन जइहौं।

—श्री जगदीशचन्द्र मिश्र

अपने हलसे खींच लिया और फिर स्नान किया। बलदेवजीके इस प्रकार व्रजमें आने और वहाँ रास करनेका वर्णन भी इस ग्रन्थकी विशेषता कही जा सकती है।

१०. विज्ञान खण्ड : यह इस ग्रन्थका अन्तिम खण्ड है। इसमें भक्तिमार्ग, निर्गुण भक्तियोग, भक्त-माहात्म्य, हरिमन्दिर-प्रतिष्ठा, महापूजाविधि, षोडशोपचार-पूजा तथा परब्रह्म-निरूपण आदि विषयोंका वर्णन है।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थमें श्रीकृष्ण-चरित्रके वे सूत्र मिलते हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णसम्बन्धी ग्रन्थोंमें 'गर्गसंहिता'का अपना पृथक् महत्त्व है।

●

श्रीमद्भागवत और रासलीला-रहस्य

एक प्रेमी पथिक

★

रास व्रजकी अपनी अनोखी वस्तु है। व्रजमें इसे भक्त आचार्योंने अलौकिक महत्ता प्रदानकर दार्शनिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमिपर स्थापित किया है। रासका उद्देश्य मनोरञ्जन न होकर आत्मानन्दकी अनुभूति करना है। अतः वह भावनाकी दिव्यतासे अभिमण्डित है। लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णकी इस अद्भुत लीलाका जनमानसपर स्थायी प्रभाव डालनेके लिए इसकी विविध व्याख्याएँ की गयी हैं। भगवान्‌की इस दिव्य-लीलाका भाव न समझकर केवल बाह्यदृष्टिसे देखनेपर यह सारी कथा शृङ्गाररसपूर्ण दिखायी दे सकती है और इससे मनुष्य भ्रममें भी पड़ सकते हैं। किन्तु श्रीमद्भागवतके वर्णित इस रासलीलाका निश्चय ही रहस्य अलौकिक है। उसे हृदयङ्गम करनेके लिए भगवान्‌के चरणारविन्दोंमें दृढ़ प्रीति होना परमावश्यक है।

रासलीलाका यह प्रसङ्ग श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें २९ से ३३ अध्यायतक वर्णित है। इसीको 'रासपञ्चाध्यायी' कहा गया है। इसमें तत्त्वोंके सारभूत तत्त्वका परमोज्ज्वल प्रकाश है। वास्तवमें श्रीमद्भागवतके इन पाँच अध्यायोंमें वर्णित यह लीला-रहस्य पञ्चप्राणस्वरूप है।

इस लीलाको लौकिक शृङ्गार-रसपूर्ण न समझ लिया जाय, इसलिए इसका प्रारम्भ करते समय ही शुकदेवजीने इसके प्रथम श्लोकमें प्रथम शब्द 'भगवान्' दिया है जिससे पढ़नेवाला इसे सहज ही भगवान्‌की लीला समझकर पढ़े :

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपश्रितः॥
(श्रीमद्भागवत १०.२९.१)

इस प्रकार यह लौकिक काम-प्रसङ्ग कदापि नहीं। इसके श्रोता हैं, विवेक-वैराग्य-सम्पन्न, मुमुक्षु, धर्मज्ञानी, मरणकी प्रतीक्षा करनेवाले महाराज परीक्षित् और वक्ता हैं ब्रह्मविद्वरिष्ठ परमयोगी जीवन्मुक्त, सर्वऋषि-मुनियोंके मान्य श्री शुकदेवजी। क्या ऐसे जीवन्मुक्त ब्रह्मनिष्ठ श्रोता-वक्ता लौकिक शृङ्गाररससे पूर्ण बातें कहे-सुनेंगे ? फिर उस समाजके मध्य, जहाँ असंख्य गण्यमान ऋषि-महर्षि श्रोता बने हुए उस परमपावन श्रीकृष्णकी कथाको सुन रहे

हैं ? ऐसा सोचना नितान्त भूल है। वास्तवमें इन पाँच अध्यायोंमें भगवान्‌की परम दिव्य अन्तरङ्ग-लीलाका—निजस्वरूपभूता महाभावरूपा ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी तथा उन्हींकी काय-व्यूहरूपा दिव्यकृष्णप्रेममयी गोपाङ्गनाओंके साथ होनेवाली भगवान्‌की रसमयी लीलाका वर्णन है।

'रास'शब्दका मूल पद है 'रस'। 'रस' स्वयं भगवत्-स्वरूप है : **रसो वै सः**। और श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं : **कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्**। जिस दिव्य-क्रीडामें एक ही रस अनेक रसोंके रूपमें प्रकट होकर अनन्त-अनन्त रसोंका समास्वादन कराये, एक ही रस स्वयं ही आस्वादक, आस्वाद्य, लीलाधाम और विभिन्न आलम्बन एवं उद्दीपनोंके रूपमें क्रीड़ा करे—उसे 'रास' कहते हैं। इस प्रकार 'रास' भी भगवान्‌का लीलामय विग्रह ही है।

भगवान्‌की यह लीला भगवान्‌के नित्य गोलोकधाममें दिव्यरूपसे नित्य हुआ करती है। भगवान्‌की विशेष कृपासे प्रेमी साधकोंके हितार्थ कभी-कभी वह अपने दिव्य गोलोकधामके साथ भूमण्डलपर भी अवतरित हुआ करती है जिसे देख-सुन एवं गाकर तथा स्मरण-चिन्तन कर अधिकारी पुरुष रसस्वरूप भगवान्‌की इस दिव्य-लीलाका आस्वाद ले सकें।

'रासपञ्चाध्यायी'में वंशीध्वनि, गोपियोंके अभिसार, श्रीकृष्णके साथ बातचीत करना, दिव्यस्मरण, श्रीराधाके साथ अन्तर्धान होना, पुनः प्रकट होना, रास-नृत्य, क्रीड़ा, जलकेलि और वनविहार आदिके ऐसे दिव्य प्रसङ्ग हैं जो मानवी भाषामें होनेपर भी वस्तुतः परमदिव्य हैं।

यह रास वस्तुतः परम उज्ज्वल रसका एक दिव्य-प्रकाश है। यह अलौकिक रस जड़-जगत्‌की तो बात ही क्या, ज्ञान या विज्ञान-जगत्‌में भी प्रकट नहीं होता। इसका स्फुरण साधारण मानसमें संभव नहीं। इसकी स्फूर्ति तो परमभावमयी श्रीकृष्णप्रेमस्वरूपा गोपियोंके मधुर हृदयमें ही होती है।

भगवान्‌का शरीर जीवकी भाँति जड़ नहीं होता। उनका चिदानन्दघन शरीर दिव्य है। वह अजन्मा और अविनाशी है। भगवान्‌के समान ही गोपियाँ भी परमरसमयी और चिदानन्दमयी ही हैं। उनकी दृष्टिमें केवल चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ही हैं; उनके हृदयमें श्रीकृष्णको (साक्षात् प्रेमको) तृप्त करनेवाला प्रेमामृत है। उनकी स्थिति अलौकिक है। इस अलौकिक स्थितिमें स्थूल-शरीर, उसकी स्मृति और उसके सम्बन्धमें होनेवाले अङ्ग-सम्बन्धकी कल्पना किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती। ऐसी कल्पना तो केवल देहात्मबुद्धिवादी जड़ जीव ही कर सकते हैं। ब्रह्मा, शङ्कर, उद्धव, अर्जुन आदिने गोपियोंकी उपासना करके भगवान्‌के चरणारविन्दोंका प्रेम प्राप्त किया है। उन गोपियोंके दिव्यभावको साधारण सांसारिक स्त्री-पुरुषके भाव जैसा मानना गोपियों एवं भगवान्‌के प्रति वास्तवमें अपराध ही होगा। भगवान्‌का भी विग्रह दिव्य है, उसमें कन्दर्पका वास हो ही नहीं सकता। वे तो 'साक्षात् मन्मथमन्मथ' हैं। अतः गोपियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णका जो रमण हुआ है, वह सर्वथा दिव्य भगवद्-राज्यकी लीला है, कथमपि लौकिक कामक्रीड़ा नहीं।

यहाँ यह बात भी विशेष उल्लेखनीय है कि भगवान्‌ने अगली रात्रियोंमें उन गोपियोंके साथ विहार करनेका प्रेम-संकल्प कर लिया था, जिनकी साधना पूर्ण हो चुकी थी,

जो सत्यनिष्ठ हैं तथा जो लोकदृष्टिमें विवाहित भी हैं। उन्हें इन्हीं रात्रियोंमें दिव्य-लीलामें सम्मिलित करना है। वे आगे आनेवाली रात्रियाँ कौन-सी हैं, यह बात भगवान्की दृष्टिके सामने है। उन्होंने शारदीय रात्रियोंको देखा। 'भगवान्ने देखा' इसका भी यहाँ विशेष अर्थ है। सृष्टिके प्रारम्भमें **स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम्** अर्थात् इसके देखनेसे ही जगत्की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार इस रासलीलाके प्रारम्भमें भगवान्के प्रेमपूर्वक देखनेसे शारदीय दिव्य रात्रियोंकी सृष्टि हुई है। मल्लिका-पुष्प, चन्द्रमाकी चन्द्रिका आदि समस्त उद्दीपन-सामग्री भगवान्के द्वारा वीक्षित है। अतः ये सब सामान्य या लौकिक नहीं, अपितु दिव्य और अप्राकृत हैं।

व्रजकी इन गोपियोंने अपना मन श्रीकृष्णके साथ एकाकार कर दिया था। उनके पास अपना मन ही नहीं था। श्रीकृष्णने विहार करनेके लिए दिव्य मनकी सृष्टि की गयी। यही भगवान्की योगमाया है, जो दिव्य रासलीलाके लिए दिव्य मनका, दिव्य स्थल और दिव्य सामग्रीका निर्माण किया करती है।

इतना होनेपर भगवान्की भुवनमोहिनी बाँसुरी बजती है, जो जड़को चेतन, चेतनको जड़, चलको अचल और अचलको चल, विक्षिप्तको समाधिस्थ और समाधिस्थको विक्षिप्त बनाती है। भगवान्का प्रेम प्राप्तकर गोपियाँ निश्चिन्त होकर अपने लौकिक गृहकार्यमें लगी हुई थीं। कोई गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रुषा रूप धर्मकार्यमें लगी थीं, कोई 'गो-दोहन' आदि अर्थके कार्यमें लगी थीं। कोई श्रृंगार आदि कामके साधनमें, तो कोई पूजापाठ आदि मोक्षके साधनमें संलग्न थीं। इस प्रकार सभी धर्म, अर्थ, काम, मोक्षादिके कर्तव्य-पथपर चलती हुई साधनामें व्यस्त थीं। किन्तु वास्तवमें वे उनमेंसे एक भी पदार्थ चाहती नहीं थीं, यही उनकी विशेषता थी। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि भगवान्की पुकार (वंशीध्वनि) सुनकर कर्मकी पूर्णतापर उनका ध्यान नहीं गया। ये चल पड़ीं उस विषयासक्तिशून्य संन्यासीके समान, जिसका हृदय वैराग्यकी प्रदीप्त ज्वालासे परिपूर्ण होता है। किसीने किसीसे पूछा नहीं, सलाह भी नहीं ली। अस्त-व्यस्त रूपमें जो जैसी थी, वैसे ही श्रीकृष्णके पास पहुँच गयी। वैराग्यकी पूर्णता और प्रेमकी पूर्णता एक ही चीज है, दो नहीं। अतः ये गोपियाँ साधनाके उच्च स्तरमें परम आदर्श थीं। उनकी सारी वृत्तियाँ सर्वथा श्रीकृष्णमें ही निमग्न रहतीं। इसीसे उन्होंने देह-गेह, पति-पुत्र, लोक-परलोक, कर्तव्य, धर्म—सबको छोड़कर, सबका परित्याग और उल्लंघन कर एकमात्र परम ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णको ही प्राप्त करनेके लिए रासक्रीड़ा की। उनका यह त्याग लक्ष्यकी प्रगतिका तीव्रानुराग है जो उनका स्वधर्म है, इसका आचरण गोपियों जैसे उच्च स्तरके साधकोंमें ही सम्भव है। यह त्याग तिरस्कारमूलक नहीं, वरन तृप्ति-मूलक है। भगवत्-प्रेमकी ऊँची स्थितिका यही विशुद्ध रूप है।

भगवान्ने जब गोपियोंको स्त्रीधर्मोचित सनातन सदाचारकी शिक्षा दी, तो गोपियोंकी प्रार्थनासे यह स्पष्ट हुआ कि वे श्रीकृष्णको अन्तर्यामी, योगेश्वरेश्वर परमात्माके रूपमें पहचानती हैं और जिस प्रकार अन्य लोग गुरु, सखा, माता-पिताके रूपमें श्रीकृष्णकी उपासना करते हैं वैसे

ही वे पतिके रूपमें श्रीकृष्णकी आराधना करती हैं, जिसे शास्त्रोंमें मधुरभाव या परम उज्ज्वल-रसके नामसे कहा जाता है। जब प्रेमके सभी भाव परिपुष्ट हो जाते हैं, तब सबका अन्तिम रूप गोपीभावकी भूमिका प्रकट होती है।

श्रीकृष्ण भगवान्‌ने उनका भाव पूर्ण किया और अपनेको असंख्य रूपोंमें प्रकट करके गोपियोंके साथ क्रीड़ा की। उनकी क्रीडाका स्वरूप बताते हुए कहा गया है:

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथाऽर्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः।

जिस प्रकार नन्हा-सा शिशु दर्पण अथवा जलमें अपने प्रतिबिम्बके साथ खेलता है, उसी प्रकार रमाके स्वामी भगवान् कृष्ण और व्रजसुन्दरियोंने रमण किया था। अर्थात् प्रेम-रसस्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्मने अपनी ही प्रतिमूर्तिसे उत्पन्न अपनी प्रतिबिम्बस्वरूपा गोपियोंसे आत्मक्रीडा की। भगवान् कृष्णकी इसी दिव्य चिदानन्दरूपा क्रीडाका नाम ही 'रास' है।

मान और मद भगवान्‌की लीलामें बाधक हैं और वियोग संयोगका पोषक है। रास-लीलामें मान-मद भी इसीलिए आया है कि उनसे लीलामें रसकी और भी पुष्टि हो। भगवान्‌की इच्छासे ही गोपियोंमें लीलानुरूप मान और मदका संचार हुआ और भगवान् अन्तर्धान हो गये। जिनके हृदयमें लेशमात्र भी मद अवशेष है, नाममात्र भी मनका संस्कार शेष हैं वे भगवान्‌के सम्मुख रहनेके अधिकारी नहीं; अथवा भगवान्‌के पास रहते हुए भी उनका दर्शन-लाभ नहीं पा सकते। भगवान्‌के वियोगमें गोपियोंकी दशासे प्रत्येक रासलीलाका पाठक अवगत है। गोपियोंके मन, प्राण, शरीर सब एकाकार होकर कृष्णमय ही हो गये। उनके प्रेमोन्मादका यह गीत, जो उनके प्राणोंका प्रत्यक्ष प्रतीक है; आज भी भावुक भक्तोंको भावमग्न करके भगवान्‌के लीलालोकमें पहुँचा देता है। गोपियोंके 'महाभाव' के समक्ष भगवान्‌को प्रकट होकर यह स्वीकार करना पड़ा कि 'हे गोपियो! मैं तुम्हारे प्रेमभावका नित्य ऋणी हूँ। यदि मैं अनन्त कालतक तुम्हारी सेवा करता रहूँ तो भी तुमसे उऋण नहीं हो सकता। मेरे अन्तर्धान होनेका प्रयोजन तुम्हारे चित्तको दुखाना नहीं था, अपितु तुम्हारे प्रेमको और उज्ज्वल एवं समृद्ध करना था।' इसके बाद रासक्रीड़ा प्रारम्भ हुई।

गोपियाँ भगवान्‌की स्वकीया थीं या परकीया? यह प्रश्न भी वास्तविकताको जाने बिना ही उठाया जाता है। श्रीकृष्ण सांसारिक जीव नहीं हैं। संसारमें कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो उनकी न हो। श्रीकृष्णकी दृष्टिमें कोई परकीय है ही नहीं, सब स्वकीय है। सब केवल अपना ही लीला-विलास है। सभी आत्मस्वरूपा, अन्तरङ्गा शक्ति हैं। यह बात शुकदेवजीने राजा परीक्षित्‌के प्रश्नके उत्तरमें कही है। गोपियाँ परकीया तथा परकीयाभावमें महान् अन्तर है। परकीयाभावमें निम्नलिखित तीन बातें होती हैं।

१. अपने प्रियतमका निरन्तर चिन्तन।

२. मिलनकी उत्कट उत्कण्ठा।

३. दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव।

स्वकीयाभावमें निरन्तर एक साथ रहनेसे ये बातें गौण हो जाती हैं; परन्तु परकीयामें उत्तरोत्तर तीव्र होती जाती हैं। इसके अतिरिक्त स्वकीया अपना, अपने बच्चों और घरका सभी कुछ अपने पतिसे करवाना चाहती है। वह यह सब कुछ करना पतिका कर्तव्य समझती है। परन्तु परकीयाभावमें प्रेयसी प्रियतमसे कुछ भी नहीं चाहती; वह तो केवल अपनेको देकर ही उसे सुखी करना चाहती है। गोपियोंमें यह भाव पूर्ण परिपुष्ट है। इसीसे कुछ लोग उन्हें परकीया बतलाते हैं। परन्तु यह केवल भावमात्र ही था। वस्तुतः वे श्रीकृष्णकी अपनी ही प्रेमरूपिणी दिव्यशक्तियाँ थीं। उनके सम्बन्धमें इस प्रकारका भाव प्रकट करना इस दिव्य लीलाके सर्वथा प्रतिकूल है। गोपियाँ दिव्य महाभावकी भूमिपर अधिष्ठित हैं।

रासका यह प्रसंग लौकिक होते हुए भी पारलौकिक है। इसमें मिलन, विलास, क्रीड़ा, शृङ्गारका रसास्वादन सभी कुछ है। किन्तु भेद केवल इतना है कि यह लौकिक स्त्री-पुरुषोंका मिलन नहीं। इसके नायक हैं, सच्चिदानन्दघन पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण और नायिका हैं, स्वयं ह्लादिनी शक्ति श्री राधाजी और उनकी कायव्यूहरूपा गोपाङ्गनाएँ। अतः यह रासलीला अप्राकृत है। वास्तवमें इस लीलाके गूढ़ रहस्यकी प्राकृत जगत्में व्याख्या हो भी नहीं सकती, क्योंकि यह इस जगत्की क्रीड़ा है ही नहीं। यह तो उस दिव्य आनन्दमय रसमय राज्यकी चमत्कारमयी लीला है, जिससे श्रवण और दर्शनके लिए परमहंस मुनिगण भी सदा उत्कण्ठित रहते हैं। इसीसे श्री शुकदेवजीने इस रासलीलाके श्रवण-वर्णनका महान् तथा अपूर्व फल बतलाया है :

> विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
> श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
> भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
> हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

'व्रजवधुओंके साथ भगवान्‌की इस रासक्रीड़ाका जो संशयरहित मनसे श्रद्धाके साथ श्रवण और कीर्तन करेगा, वह शीघ्र ही भगवान्‌की प्रेमा—पराभक्तिको प्राप्त होगा और उसके हृद्रोग कामादिका सर्वथा विनाश हो जायगा।'

अतः श्रीमद्भागवतके इस दिव्य रासलीला-प्रसङ्गका अध्ययन करते समय किसी प्रकारकी लौकिक शंका न करते हुए सर्वदा श्रद्धायुक्त होकर हृदयसे इसे भगवान्‌की पूत, अलौकिक लीला समझना चाहिए और उस महाभाव-रसमें डूबनेकी उन लीलामयसे प्रार्थना करनी चाहिए।

●

कर्मतत्त्वका विवेचन

गहना कर्मणो गतिः

आचार्य श्रीरामनारायण त्रिपाठी

संस्कृत-विभाग : लखनऊ विश्वविद्यालय,

इस कर्मक्षेत्र जगत्में प्राणीमात्रकी स्थितिका अपरिहार्य अंग तथा भविष्यका परम संबल कर्म है। इसके बिना प्राणियोंका जीवन दूभर, दयनीय और निन्द्य हो जाता है। यह कर्म केवल लौकिक व्यवहार और कल्याण-अभ्युदयका ही साधन नहीं है, अपितु अलौकिक सुख-सम्पत्ति तथा अपवर्गका भी साधन है। इसलिए जैसे प्रवृत्तिमार्गियोंके लिए यह श्रेयस्कर और ग्राह्य पथ है, वैसे ही निवृत्तिमार्गियोंको भी उपादेय तथा संस्थिति-हेतु है, जिसका साक्षी हमारा प्राचीन इतिहास है। सर्वथा स्तुत्य इस कर्मको करनेके लिए। कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः इत्यादि श्रुतियाँ; कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् इत्यादि स्मृतियाँ; राम, कृष्ण, जनक आदि उदात्त मानवोंके चरित्र, और प्राचीन-अर्वाचीन लोकव्यवहारका सातत्य मानवमात्रको सदा प्रेरित, सम्बोधित और प्रयुक्त करता चला आ रहा है।

यद्यपि कर्म तथा कर्मफलसे प्रायः सभी लोग पूर्णतया परिचित हैं, फिर भी कर्मका स्वरूप अर्थात् उसका करणीय और अकरणीय रूप एवं उसका विपाक (फल) इतना जटिल और गंभीर है कि इसके समझनेमें बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं। कारण जिस कर्मको धर्म माना जाता है, वह भी स्थलविशेषपर अधर्म हो जाता है तथा जो कर्म अधर्मरूप अंगीकृत है, वह भी कहीं धर्म हो जाता है। महाभारत, वनपर्व तीर्थयात्रा-प्रकरणमें हनुमान्‌जीने भीमसे इस गूढ विषयका उल्लेख किया है।

अधर्मो यत्र धर्माख्यो धर्मश्चाधर्मसंज्ञितः।
स विज्ञेयो विभागेन यत्र मुह्यन्त्यबुद्धयः॥ (१५०.२७)

जिस पुण्यजनक सुकृत कर्मको शास्त्र विधान करता है, उसमें भी दुष्ट कर्म आ जाते हैं वहाँ पापगन्धकी उपलब्धि सुनी जाती है। जैसे। अग्निष्टोम आदि श्रौतयागोंमें पशुहिंसा।

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति इसके अनुसार यज्ञीय हिंसाको हिंसा न समझना तथा उस हिंसासे जन्य पापको स्वीकार न करना, यह उचित नहीं क्योंकि हिंसा किसी भी निमित्तसे हो, विहित या अविहित हो, उसका प्राणिवधत्व रूप अपनेय नहीं हो सकता। इसलिए आचार्य पञ्चशिखने यज्ञीय हिंसाको भी हिंसा और पापजनक स्वीकार किया है : **स्वल्पसङ्करः सपरिहारः स प्रत्यवमर्षः** (सां० त० कौ०, २)। जहां यागादिजन्य पुण्यसंभार होगा वहां हिंसाजन्य पापका भी सांकर्य अवश्य होगा, जो प्रायश्चित्तके द्वारा परिहार्य है। अन्यथा कर्मपरिपाकके समय भोग्य होगा। यह सांकर्य देवाराधननिमित्त पशुबलिमें भी है। इसके अतिरिक्त अन्य लौकिक उपकार आदि पुण्यकर्मोंमें भी अनुपकार आदि निन्दित कर्मोंकी प्रसक्ति दृष्टिगोचर होती है। इसी प्रकार निषिद्ध दुष्कर्म जो पापोत्पादक है, उनमें भी पुण्य-कर्म और उसकी फलप्राप्ति देखी जाती है। जैसे : प्राणीमात्रकी हिंसा निषिद्ध एवं गर्हित है, किन्तु आततायी और हिंसक जन्तुओंके वधसे प्रजाओंके भय, बाधा, तापका उपशमन देखा जाता है।

ऊपर जिस तरह अहिंसाके सम्बन्धमें लिखा है, उसी तरह अन्य सत्कर्म सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय-निग्रह आदिपर दृष्टिपात कर लेना भी प्रासंगिक रहेगा। यह निर्विवाद है कि सत्यका महत्त्व लौकिक और पारलौकिक दोनों ही दृष्टिसे सभी धर्म और सम्प्रदायोंमें सर्वाधिक है। किन्तु सत्यके अवलम्बनमें उचित निर्णय कर लेना सदैव आसान नहीं है। जैसे : दस्युदलसे आक्रान्त किसी व्यक्तिको छिपा हुआ देखकर पीछा करनेवाले दस्युओं द्वारा पूछे जानेपर कौन-सा उत्तर सत्यकी कसौटीपर खरा उतरेगा ? अर्थात् सच्ची बात कहकर पीड़ितका नाश करवा देना उचित होगा या झूठ बोलकर उसकी रक्षा करना ? इसी तरह किसी सच्चे निर्णयाधीन अभियोगमें एकमात्र साक्षी होनेपर वादीका सम्बन्धी होता हुआ भी प्रतिवादीके वकीलों द्वारा वादीसे सम्बन्धविषयक प्रश्नका कौन-सा उत्तर सत्य सम्मानित होगा।

अस्तेयका स्थान लोककी व्यवस्था एवं मर्यादामें महत्त्वपूर्ण है। फिर भी इसके स्वरूपका निर्णय सर्वथा सरल नहीं है। जैसे भूख-प्याससे मरणासन्न व्यक्ति अपनी जीवन-रक्षाके लिए स्तेयमात्रसे प्राप्य भक्ष्य पदार्थसे जीवनकी रक्षा करे या उसे त्यागकर अपने प्राणोंकी बलि दे दे ? जब कि जीवन-रक्षाका महत्त्व लोक और शास्त्र[1] दोनोंमें सर्वोच्च माना जाता है। अथवा धर्मरक्षा, प्राणरक्षा, देशरक्षा आदि धर्मसंकटके समय अस्तेयका प्रकरण उपस्थित होनेपर क्या करणीय होगा ? जैसे किसी शत्रु या व्यक्तिके भीषण शस्त्रों द्वारा देश, समाज या जनकी महती हानि होनेकी सम्भावना हो और उस समय उसकी रक्षाके लिए शस्त्रास्त्रोंकी चोरी ही एकमात्र मार्ग रह गया हो, तो वहां अस्तेयके पालनका क्या रूप होगा ?

---

१. आत्मानं सततं रक्षेत्, शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्, जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येत्, जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात्, आदि।

शौच समाजमें व्यावहारिक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टिसे सर्वमान्य है। यह शौच शारीरिक और मानसिक दो प्रकारका होता है।[1] जिसमें मानसिकका महत्त्व अधिक है : अर्थे शुचिः स शुचिः न मृद्वारि शुचिः शुचिः। किन्तु शारीरिक पवित्रता भी उसकी पूर्ण सहायक होती हुई अपना पर्याप्त स्थान रखती है। सामान्य रूपसे मानसिक पवित्रता निश्छलता, उदात्तता आदि हैं तथा शारीरिक पवित्रता स्नान आदि। इन दोनोंका विवेक दुरूह है। जैसे : एक मायावी धूर्तके मायाजालमें फँसकर निरपराध जनता तथा स्वयं अनेक आपत्तियोंमें पिसे जा रहे हैं और उससे उद्धार पानेका केवल मार्ग उसके साथ छल-छिद्रमात्र हो, तो ऐसी अवस्थामें मानसिक पवित्रताका क्या स्वरूप होगा ? इसी प्रकार वातव्याधिसे पीडित व्यक्तिके लिए तथा जलाभाव और शीतप्रदेशमें शारीरिक पवित्रताकी क्या परिभाषा हो सकती है ?

इन्द्रियनिग्रहका तात्पर्य काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मात्सर्य आदिके निग्रहसे है, जो परम प्रशस्त एवं लोक-परलोक दोनोंके हितमें सर्वथा उपादेय है। किन्तु इसका भी सच्चा स्वरूप निर्धारण करना एक दुस्तर कार्य है। जैसे : किसी उद्दण्ड द्वारा निरपराध दुर्बल व्यक्तिको पीटनेपर सशक्त सबल द्वारा क्रोध करके उसका प्रतीकार करना उस दशामें उचित है या अनुचित ? ऐसे ही अन्य काम आदिके स्थल हैं, जहाँ इनका प्रादुर्भूत होना औचित्यकी परिधिके अन्तर्गत है। ऐसी दशामें इन्द्रिय-निग्रहका क्या रूप होगा ?

इस प्रकार अनेक स्थलोंपर दृष्ट विविध रूपोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि शुभाशुभ कर्मोंका सांकर्य बहुतायतसे है। कर्मफलके विषयमें भी यही संकीर्णता संसारमें प्रायः उपलब्ध होती है। जैसे : पुण्यवान्, सदाचारी व्यक्तियोंको दुःखप्राप्ति और पापी, दुराचारियों सुख-सम्पत्तिका लाभ; अभक्ष्यभक्षणसे आरोग्य-लाभ और भक्ष्यभक्षणसे रोगादिकी उत्पत्ति।

अतः उपर्युक्त संशयके कारण यदि शुभ और अशुभ दोनों कर्मोंका शारीरिक व्यापार द्वारा त्यागकर इस संकटसे बचनेके लिए चुपचाप बैठना ही श्रेयस्कर माना जाय, तो वह भी आपद्ग्रस्त है। न व्याजेन धर्ममाचरेत् कर्मके प्रति बहाना भी एक आत्मप्रवंचना ही माना जाता है। इसके अतिरिक्त उस समय भी तो वाचिक और मानस शुभाशुभ कर्म होते ही रहेंगे। इसलिए ऐसी अवस्थामें निपुण व्यक्तियोंके लिए भी अत्यन्त गहन होनेके कारण कोई निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कौन सा शुभकर्म करणीय है और कौन सा अशुभकर्म नहीं। भगवान् कृष्णने स्वयं ही गीतामें इसकी दुरूहता प्रकटकी है।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। (४.१६)

यह कहना कठिन है कि कहाँ किस दशामें शुभ अशुभका रूप ले लेता है और किस परिस्थितिमें अशुभ शुभरूप हो जाता है।

---

१. बाह्यमाभ्यन्तरं चैव द्विविधं शौचमुच्यते।
बाह्यन्तु मृज्जलैः प्रोक्तमान्तरं शुद्धमानसम्॥ (स्क० पु० मा० खं० ५२.२२)

इस कर्मकी सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि कर्म भवबन्धनके साथ ही साथ भवमोचक भी है तथा इससे स्वर्गादि उत्तम लोक, सम्मान, सुख, कीर्तिकी प्राप्ति होती है और यही अपमान, दुःख, अयशका भी मार्ग है। इसलिए भगवान् कृष्णने स्वयं इसके स्वरूपको प्रकाशित करनेकी प्रतिज्ञा की :

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्। (गी० ४.१६)

शरीर, इन्द्रिय और मनके व्यापारको कर्म कहते हैं, जिसे व्यक्ति अपना कर्तव्य समझकर करता रहता है, चाहे वह किसी भी रूपमें हो। ये कायिक वाचिक और मानसिक होते हैं। यद्यपि कर्म देश, काल, जाति, कुल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, परिस्थिति, दशा आदि द्वारा विभिन्न रूपोंमें सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त किये हैं; तथापि इसके मुख्य भेद विहित और निषिद्ध दो हैं। जो शास्त्र और लोक-सम्मानित होते हुए शिष्टजन-परिगृहीत हैं, वह विहित कर्म है। जिसका लोक और शास्त्रमें निषेध है तथा शिष्टजनों द्वारा जो त्याज्य है, वह निषिद्ध कर्म है। यद्यपि इन कर्मोंका भलीभाँति विवेचन एवं निर्णय शास्त्रीय वचनों और विशेषज्ञों द्वारा ही सुकर है, किन्तु लोकव्यवहारमें विहित और निषिद्ध कर्मोंकी इतनी बड़ी संकीर्णता तथा विपर्यास आदि दृष्टिगोचर होता है, जहाँ सन्देह होना स्वाभाविक है। इसी प्रकार एक समयमें उपस्थित दान, सत्य, अहिंसा, प्रिय आदि विहित सत्कार्योंके प्रकरणमें कौन ग्राह्य या त्याज्य है, यह निर्णय भी गुरुतर कार्य प्रतीत होता है। भगवान् कृष्णने इसकी दुर्ज्ञेयता स्वयं प्रकट की है : **गहना कर्मणो गतिः** (गी० ४.१७) अर्थात् कर्मका स्वरूप अत्यन्त दुर्ज्ञेय है। इस सन्देह और दुर्ज्ञेयताकी निवृत्ति तथा कर्मरहस्यके ज्ञानके लिए महर्षियोंने उत्सर्ग और अपवाद रूपसे स्मृति, पुराण आदिमें विवेचनकर सामान्य तथा संकटकालीन कर्मोंके विषयमें मार्ग दिखाया है।[1]

यद्यपि मनुष्य अपने जीवन-निर्वाह तथा लोक-व्यवहारके लिए जो भी एक निश्चित रूपसे कर्म करता है, वह उसका कर्तव्य है जो श्रेयस्कर माना जाता है। फिर भी यहाँ हमारा तात्पर्य उन कर्मोंसे नहीं जो व्यक्ति, समाज, देश, पात्रादि विशेष रूपमें भिन्न-भिन्न है। जैसे व्याध धीवर आदिकी हिंसा, द्यूतक्रीडामें छल, कूटनीतिमें चालाकी, शीतप्रदेशमें मद्यपान आदि, गुप्तचरोंके विशेष कार्य आदि। अपि तु शास्त्रविहित मर्यादित कर्म ही हमारी विवेचनाके यहाँ विषय हैं। जो देश-समाजका कल्याणकारी सत्कर्म कहलाता है। यों तो कर्मोंके करणीय रूपका निश्चय व्यवहारपक्षमेंपूर्वोक्त रीतिसे हो जानेपर भी प्रायः लोग कर्मको जन्म-मरणमय संसारका प्रदायक ही मानते हैं : **कर्मणैव बद्ध्यते जन्तुः।** इसे परम पुरुषार्थ मोक्षका साधक कोई नहीं मानते अर्थात् कर्म-लोक व्यवहारका निर्वाहक और स्वर्गादि उत्तम लोकका प्रापक है।

---

१. यद्भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम।
दानं च सत्यं तत्त्वं वा अहिंसा प्रियमेव च।
एषां कार्यगरीयस्त्वाद् दृश्यते गुरु-लाघवम्॥

मोक्षकी प्राप्ति केवल ज्ञानसे होती है। किन्तु शास्त्रोंमें कर्म भी मोक्षदाता और बन्धनका उच्छेदक माना गया है: कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः, स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः आदि। अब यहाँ विचारणीय है कि मोक्षदायक यह कर्म कौन है? इस जटिल ग्रन्थिका स्फोरण भगवान् कृष्णने इस श्लोक द्वारा किया है:

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ (गी० ४.१८)

इस वाक्यसे कृष्णने अनासक्ति-युक्त कर्मयोगको लोकव्यवहारोपयोगी तथा मोक्षप्रद बताया है। इस निगूढ़ कर्मतत्त्वको समझानेके लिए गीतामें सर्वप्रथम कर्म, विकर्म और अकर्म ये तीन प्रकारकी कक्षाएँ विभक्त की गयी हैं और उन तीनोंद्वारा कर्मतत्त्वको समझनेके लिए कहा गया है:

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्‌धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ (गी० ४.१७)

इस श्लोकमें प्रतिपादित कर्म, अकर्म, विकर्म शब्दका अर्थ गीताके व्याख्याकारोंने भिन्न-भिन्न किया है, जिससे भगवान्‌की इस उक्तिका अभिप्राय सन्देहग्रस्त हो जाता है। इसमें कौन-सा पक्ष निर्दुष्ट है, यह कहना हम जैसे अल्पज्ञोंके बलबूतेका नहीं। अतः यहाँ केवल उन पक्षोंको प्रस्तुत किया जा रहा है। सुविज्ञ जन ही सिद्धान्त पक्षका निर्णय कर लें।

भारतभूमिमें अनादि कालसे प्रवाहित ज्ञान, भक्ति और कर्मकी त्रिवेणीधारा भारतीयको सुखद स्पर्श और आनन्द दे रही है। इस त्रिवेणीकी व्यष्टिरूपसे भिन्न-भिन्न धाराओंके अनुयायी तथा समष्टि रूपके अनुयायी विचारकोंने अपने-अपने दृष्टिकोणसे इसकी विवेचना की है।

ज्ञानमार्गानुयायी अद्वैतवादी इस स्थलपर देहव्यापार, चेष्टा आदिको कर्म तथा अव्यापार (क्रियाराहित्य) को अकर्म नहीं मानते; अपितु 'कर्म' शब्दसे विहितकर्म और 'विकर्म' शब्दसे निषिद्धकर्म तथा 'अकर्म' शब्दसे तूष्णींभावको ग्रहण करते हैं। इन कर्म, विकर्म, अकर्म तीनोंका यथार्थ तत्त्व गहन है। उसको समझकर कर्मानुष्ठान करना ही वास्तविक कर्म है। गतानुगतिक होना सर्वथा हेय है। वह तत्त्व यह है—वस्तुतः विहित और निषिद्ध इन दोनों कर्मोंके कर्ता देह, इन्द्रियाँ और मन आदि हैं। आत्मा कर्ता नहीं है। तब भी 'मैं कर्ता हूँ' 'यह मेरा कर्म है' इस प्रकारकी जो प्रतीति होती है, वह अज्ञानवश देहेन्द्रियादि व्यापारोंका आत्मामें अध्यारोपके कारण होती है, जो अवास्तविक है। जैसे नौकारूढ पुरुषको भ्रमवश तटपर स्थित वृक्ष भी चलते हुए-से प्रतीत होते हैं, जो वस्तुतः स्थिर हैं। इसी प्रकार कर्म और विकर्मका कर्ता देहेन्द्रियादि-संघात है, आत्मा नहीं। इसलिए कर्ममें अकर्मकी दृष्टि होनी चाहिए। पूर्वोक्त रीतिके अनुसार त्रिगुणात्मक मायाका परिणाम देहेन्द्रिय आदि सर्वदा कर्मशील रहते हैं। यदि वे कभी अपने व्यापारसे विरत हों तो उस अवस्थामें आत्माको 'मैं कुछ नहीं करता, इस समय मैं चुपचाप सुखी हूँ' इस प्रकार कर्मरहित समझना भी देहेन्द्रियादिमें आत्मधर्मका अध्यासमात्र है, जो यथार्थतः भ्रम है। जैसे। दूरवर्ती गमनशील व्यक्तिको स्थिर समझना, जो वस्तुतः चल रहा है।

अतः देहेन्द्रियादिकी अकर्मावस्थामें भी 'मैं उदासीन हूँ' यह मानना ही कर्म है। इसलिए बन्धन-हेतु कर्मसे अलग रहना ही सुख है, यह मिथ्याभिमान है; अपितु कर्तृत्वाभिमानके न रहनेपर ही विहित और निषिद्ध कर्म बन्धनके कारण नहीं होते और कर्तृत्वाभिमानके रहनेपर औदासीन्य (कर्मराहित्य) बन्धनका हेतु हो जाता है। इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि विकर्म और अकर्मको छोड़कर तथा कर्तृत्वाभिमान और फलानुसन्धानसे रहित होकर विहित कर्म करो, ऐसा कहनेवाला ही व्यक्ति परमार्थदर्शी, योगी, ज्ञानी और कर्मी है, यह गीता-वाक्यका अभिप्राय है।

इस सिद्धान्तमें ही कुछ लोग इस श्लोककी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि यहाँ 'कर्म' शब्दका अभिप्राय नित्यकर्मसे है। नित्यकर्म करनेसे पुण्य नहीं होता, किन्तु न करनेपर प्रत्यवाय लगता है। यह नित्यकर्म विशुद्ध परमेश्वरार्पणबुद्धिसे किया जाता है। अतः इन नित्यकर्मोंमें अकर्मकी भावना करें, अर्थात् ये नित्यकर्म बन्धनके कारण नहीं हैं। किन्तु अकर्मको अर्थात् नित्य-कर्मोंके अनुष्ठान करनेको कर्म समझें। कारण नित्यकर्मोंका अनुष्ठानाभाव जो अकर्म है, वह प्रत्यवायका जनक होकर बन्धनका कारण हो जाता है। इस प्रकार समझनेवाला व्यक्ति ज्ञानी, योगी और कर्मठ माना जाता है।

कुछ अन्य व्याख्याकारोंने इसकी व्याख्या दूसरे प्रकारसे की है। इनके मतमें कर्मका अर्थ दृश्य पदार्थ अर्थात् जड़-जगत् मात्र तथा अकर्मका अर्थ द्रष्टा अर्थात् स्वप्रकाश चैतन्य है। इस तरह वे यह अर्थ करते हैं कि कर्म (दृश्य जड़-जगत्) में सद्रूपसे भासमान सबका अधिष्ठानभूत अकर्म (अवेद्य, स्वप्रकाश चैतन्य) को जो व्यक्ति पारमार्थिक दृष्टिसे देखता है तथा अकर्म (स्वप्रकाश चैतन्य) में कर्म (कल्पित मायामय दृश्य) को अपारमार्थिक दृष्टिसे विचार करता है। अर्थात् जड़-चेतनके परस्पराध्यासको जो भलीभाँति समझता है, वही मनुष्य ज्ञानी, योगी और सम्पूर्ण कर्मोंका कर्ता है।

भक्तिमार्गानुयायी विशिष्टाद्वैतवादी यहाँ विकर्म शब्दका अर्थ निषिद्ध कर्म न मानकर नित्य, नैमित्तिक, काम्य, द्रव्यार्जन, द्रव्यरक्षण, उपाय, प्रवृत्ति आदि कर्म मानते हैं। उनकी दृष्टिसे विकर्म शब्दके 'वि' उपसर्गका विरुद्ध अर्थ नहीं है, अपितु अनुष्ठानयोग्य कर्मवैविध्य है; क्योंकि यहाँ विरुद्ध-अर्थकी कोई उपयोगिता प्रतीत नहीं होती। विरुद्ध-अर्थ करनेपर 'विकर्म' शब्दका निषिद्ध कर्म अर्थ होगा और वह निषिद्ध कर्म लोक और शास्त्र दोनोंमें गर्हित माना जाता है, जो सर्वथा हेय है। अतः निषिद्ध कर्म कर्मके आचरणका प्रसंग ही उपस्थित नहीं हो रहा है तो फिर उसका तत्त्व समझनेका क्या तुक है? इसी प्रकार 'अकर्म' शब्दका भी तूष्णींभाव अर्थ ये लोग नहीं मानते, अपितु 'अकर्मका ज्ञान' अर्थ करते हैं। अतः इनकी दृष्टिमें **कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः** इस गीतावाक्यका यह अभिप्राय है : कर्ममें प्रवृत्त होते हुए भी आत्मज्ञानकी भावना रखें तथा ज्ञानमें रहते हुए भी कर्मकी भावना रखें। अर्थात् कर्मको ज्ञानविशिष्ट और ज्ञानको कर्म-विशिष्ट समझें। इस सिद्धान्तके अनुसार ज्ञान और कर्मका समुच्चय ही यहाँ बोद्धव्य विषय है।

कर्ममार्गानुयायी यहाँ 'कर्म' शब्दका अभिप्राय व्यावहारिक कर्मसे मानते हैं, जिसे 'राजस' भी कहा जा सकता है। यह वही कर्म है, जो संसारयात्राके लिए व्यवहारमें सदा उपस्थित रहता है। इसे मानव सकाम-भावनासे करता रहता है। इसमें मानवकी रागतः प्रवृत्ति होती है। इसके लिए प्रेरणा (विधि) की आवश्यकता नहीं पड़ती। अकर्म-शब्दसे निष्काम कर्म ग्रहण करते हैं जिसे 'सात्त्विक कर्म' कहा जाता है। 'विकर्म'से 'तामस कर्म' स्वीकार करते हैं, जो निन्दित माना जाता है। इनकी दृष्टिमें 'अकर्म' शब्दका यहाँ कर्मशून्यता अर्थ अभीष्ट नहीं है, क्योंकि संसारदशामें कर्मशून्यताका होना असम्भव है। वैसे ही अकर्मका अप्रशस्त कर्म भी अर्थ नहीं हो सकता, कारण यह अप्रशस्त अर्थ विकर्म शब्दसे ही प्रतिपादित हो जाता है। अतः अकर्मका सात्त्विक (निष्काम) कर्ममें ही तात्पर्य है। कर्म वही हो सकता है, जो कर्मफलसे अनुबद्ध हो। जिसमें कर्मफलकी शून्यता है, वह कर्म नहीं, अपितु अकर्म है। इस दृष्टिसे सात्त्विक कर्म (निष्काम कर्म) ही अपनेको सर्वदा फलबन्धनसे मुक्त रखता है।

इस सिद्धान्तके अनुसार उक्त गीतावाक्यका अर्थ यह है। जो व्यक्ति कर्म अर्थात् व्यावहारिक कर्म (राजस) में अकर्म (निष्काम कर्म) अर्थात् सात्त्विक कर्मकी दृष्टि रखता है और अकर्म (निष्काम कर्म) में कर्म (व्यावहारिक कर्म) कर्मकी दृष्टि देता है वही ज्ञानी, योगी और कर्मी है। इसका तात्पर्य यह है कि जबतक निष्काम कर्मको व्यावहारिक नहीं समझेगा, तबतक वह उस कर्मका विधिवत् संचालन नहीं कर सकता। इसलिए निष्काम कर्मके लिए व्यावहारिक यानी राजस-दृष्टि होना उचित है; क्योंकि यह राजसत्व प्रेरक और प्रवर्तक होता है। रजोगुणका यह निजी धर्म है। बिना रजोगुणके राग उत्पन्न ही नहीं होता और न रागके बिना प्रवृत्ति ही होती है। इसी प्रकार व्यावहारिक अर्थात् राजस-कर्ममें जबतक निष्काम कर्मकी दृष्टि न होगी तबतक वह कर्म फलबन्धसे अनुबद्ध करता ही रहता और फलके अभाव एवं असम्बन्धमें दुःखद होता है। इसलिए लोकसंग्रहकी दृष्टिसे यह भावना परम उपादेय है। यह मार्ग स्वयं तथा दूसरेको कल्याण-पथपर ले जाता है।

गहना कर्मणो गतिः के उपक्रममें कर्म, विकर्म और अकर्म इन तीनोंके द्वारा कर्मगति समझनेका संकेत है। किन्तु उसके विवेचनात्मक अग्रिम वाक्यमें कर्म और अकर्म, दो ही पक्ष लिये गये हैं, विकर्मकी चर्चा नहीं है। इस सन्देहके निराकरणके लिए कर्ममें ही विकर्मका अन्तर्भाव कर लेना उचित है। अथवा विरुद्ध कर्म होनेके कारण सर्वथा हेय समझकर उसका उपादान न करना ही उचित होगा।

कुछ स्वतन्त्र विचारक 'गहना कर्मणो गतिः' इस वाक्यको किसी दूसरे वाक्यसे संबद्ध न कर तथा अपने हीमें इसको पर्याप्त मानकर स्वतन्त्र रूपसे इसका अर्थ कर्मफलपरक करते हुए उसका गहनत्व स्वीकार करते हैं। यदि इस रूपमें भी इसका अर्थ माना जाय, तो भी जगत्में प्रत्यक्ष कर्मफल (प्रारब्ध) की जटिलता सिद्ध है। संसारमें बली-निर्बल, धनी-निर्धन, राजा-रंक, सज्जन-दुर्जन, पण्डित-पामर, सबके सतर्क एवं सावधान और सन्नद्ध रहते हुए भी अतर्कित-अपरिहार्य प्रारब्धफल भोगना ही पड़ता है।

हेमन्त-चर्या

श्री इन्द्रदेव त्रिपाठी, आयुर्वेदाचार्य

★

शरद् ऋतुके बाद हेमन्त ऋतु (शीत ऋतु) का आगमन होता है। सामान्यतः शीतऋतुमें 'हेमन्त' तथा 'शिशिर' का समावेश है। मार्गशीर्ष-पौष हेमन्त और माघ-फाल्गुन शिशिर ऋतु कहलाती है। इसमें कई विकल्प हैं। कुछ आचार्य सूर्यकी संक्रान्तिके अनुसार ऋतुओंकी गणना करते हैं :

ग्रीष्मो मेष-वृषौ प्रोक्तौ प्रावृट् मिथुन-कर्कटौ।
सिंह-कन्ये स्मृता वर्षा तुला-वृश्चिकयोः शरत्।
धनु-र्ग्राहौ च हेमन्तो वसन्तः कुम्भ-मीनयोः॥

अर्थात् मेष वृष-राशियों पर सूर्य रहने पर ग्रीष्मऋतु, मिथुन और कर्कराशि के सूर्यमें प्रावृट्, सिंह तथा कन्याराशिके सूर्यमें वर्षा, तुला और वृश्चिकके सूर्यमें शरद, धन और मकरके सूर्यमें हेमन्त तथा कुम्भ और मीनके सूर्य रहनेपर वसन्त ऋतु होती है। इस नियम से सूर्यकी संक्रान्तिके अनुसार लगभग आधे अगहनसे लेकर आधे माघतक हेमन्त ऋतुका निर्देश किया गया है। गंगाके दक्षिणी तटपर अधिक वर्षा होनेके कारण प्रावृट् ऋतु मानी गयी है, वहाँ शिशिर ऋतु नहीं होती। गंगाके उत्तरी तटपर अधिक ठंडक होनेके कारण शिशिर ऋतु होती है, प्रावृट्, ऋतु नहीं। इस प्रकार वर्षा तथा शीतकी अधिकताके अनुसार भी ऋतुओंके दिनोंमें अन्तर पड़ जाता है। फिर भी सामान्यतः अगहन-पौषको हेमन्त ऋतु कहते हैं। तुलसीदासने भी कहा है : हिम-ऋतु अगहन-मास सुहावा।

हेमन्त ऋतुका प्राकृतिक वैभव अधिक सुन्दर न होनेपर भी स्वास्थ्यकी दृष्टिसे वह बहुत महत्त्वकी है। यह ऋतु मनुष्योंके लिए शीतल, स्निग्ध, स्वादु और जाठराग्निको बढ़ाने-वाली है। यह शीतल, अत्यन्त रूक्ष, वात तथा अग्निको बढ़ाती है। स्वादु होनेके कारण मधुर रस उत्पन्न करती है। इस ऋतुमें स्वाभाविक रूपमें बलकी वृद्धि हुआ करती है। जाठराग्नि अत्यन्त प्रबल हो जाती है। अतः इस ऋतुमें गरिष्ठ भोजन सहज पच जाता और शरीरका उत्तम पोषण होता है। जो लोग सदैव मन्दाग्नि, अजीर्ण, अतिसार आदि रोगोंसे पीड़ित रहते हैं, उनका स्वास्थ्य शीतऋतुमें सुधर जाता है। अग्निके अत्यन्त दीप्त होनेसे रोगोंका प्रभाव कम हो जाता है। सदा अस्वस्थ रहनेवाले मनुष्य नियमपूर्वक स्वास्थ्यकर औषधोंका सेवन करें, तो निश्चय ही इस कालमें स्वास्थ्यलाभ कर लेते हैं।

हेमन्तमें पित्तका संशमन एवं वात तथा कफका सञ्चय होता है। शिशिर ऋतुमें वह सञ्चित वायु प्रकुपित होता है तो सञ्चित कफ वृद्धिको प्राप्त होता है। कफ शीतल, स्निग्ध तथा गुरुपाकी द्रव्योंके सेवन करनेसे अत्यन्त उपचित हो जाता है, किन्तु शैत्यके कारण कठिन तथा बँधा

रहता है, जिससे प्रकुपित नहीं हो पाता। उसका प्रकोप वसन्तकालिक उष्णताको प्राप्त करके ही होता है। इस कालमें अधिक शीतवश शरीरके सम्पूर्ण रोमकूप बन्द हो जाते हैं। शरीरकी गर्मी बाहर न निकलनेसे वह कोष्ठाग्निके साथ मिलकर उसे बलवान् बनाती है। अतः इस कालमें यथेष्ट भोजन करना चाहिए। उचित मात्रामें भोजन न मिलनेपर प्रबल जाठराग्नि वायुके संयोगसे अधिक प्रज्वलित होकर शरीरस्थ सम्पूर्ण वस्तुओंका पाक करती है।

भोजनमें मधुर, अम्ल तथा लवणायुक्त पदार्थ हितकर हैं। विशेषकर पौष्टिक, वलवर्धक, घृत, दुग्ध, मलाई एवं खाँड़के बने पदार्थ अत्यन्त लाभप्रद होते हैं। गेहूँ, उड़द, नवीन चावलोंका भात, खीर, रसाला, मोहनभोग, विविध प्रकारके पक्वान्न, मिष्टान्न, मोदक, पाक, द्राक्षासव, मधु, ईखका रस, बादाम, अखरोट, चिरौजी, खजूर, नारियल, गुड़ और तैलके बने पदार्थ इस ऋतुमें सेवन करने योग्य हैं। फिर भी यह ध्यान रहे कि ये सब पदार्थ स्वभाव एवं जाठराग्निके बलके अनुसार ही लिये जायँ। भावमिश्रने बताया है :

> प्रातर्भोजनमम्लमिष्ट-लवणानभ्यङ्ग - घर्मश्रमान्,
> गोधूमेक्षवशालिमाषपिशितं पिष्टं नवान्नं तिलान्।
> कस्तूरीं वरकुङ्कुमागुरुयुतामुष्णाम्बु शौचं तथा
> स्निग्धं स्त्रीषु सुखं गुरूष्णवसनं सेवेत हेमन्तके॥

अर्थात् हेमन्त ऋतुमें प्रातःकाल भोजन, मधुर, अम्ल तथा लवणरसयुक्त पदार्थका भक्षण, शरीरमें तेलकी मालिक, धूप, परिश्रम, गेहूँ, ईखके रससे बने पदार्थ, जड़हन धानका चावल, उडद, मांस, पिष्टान्न (पीठीकी बनी पकौड़ी आदि) नवीन अन्न, तिल, कस्तूरी, उत्तम केशर एवं उष्णजलसे स्नान, स्त्रियोंके साथ स्नेहपूर्वक सुखप्रद व्यवहार और गरम रूई या ऊनी वस्त्रका सेवन करना चाहिए। इस ऋतुमें तिलका तो धार्मिक रूपमें दान तथा सेवन करनेकी प्रथा-सी प्रचलित है। शीतकालमें इसका सेवन स्वास्थ्यकर बताया गया है और प्रमेहके रोगियोंके लिए यह एक उत्तम पथ्य है।

शिशिर ऋतुमें भी हेमन्त ऋतुका ही आहार-विहार करना चाहिए। इसमें आदानका समय होनेसे सूर्यकी किरणों द्वारा रस खींच लिया जाता है, जिससे शरीरमें रूक्षता अधिक बढ़ जाती है। अतः स्निग्ध एवं उष्ण पदार्थोंका सेवन, तेलमर्दन आदि विशेष लाभदायक होते हैं। प्रतिदिन शरीरमें तेलमालिश तथा उष्णजलसे स्नान विशेष स्वास्थ्यप्रद होता है। मुख-प्रक्षालन, आचमन आदि कार्य भी उष्णजलसे करना सुखप्रद है। शरीरपर अगर, कस्तूरी आदिका लेप लाभदायक है। सूर्यकी धूपका सेवन, आग तापना, व्यायाम या परिश्रम करना, शरीरसे पसीना निकालना आदि कार्य भी इस ऋतु में हितकर बताये गये है। ठंढकसे बचनेके लिए पैरोंमें जूते और मोजे पहनने चाहिए। सिर एवं हाथोंको भी गरम कपड़ोंसे ढंके रखना चाहिए। ओढ़ने, बिछाने तथा शरीरमें पहनेके कपड़े रुई या ऊनसे बने गरम एवं मुलायम होने चाहिए।

(शेष पृष्ठ ६२ पर)

ऊधौसे

(१)

तुम जाहि बखानत ऊधव भूरि, भलौ गुनु जोगरु ज्ञानको है।
'दुर्गेश' कछू कछु ऊपजै चाउ, न साहस साँचे विधानको है॥
उर माहि निकेतु सदा नट-नागर, सुन्दर स्याम सुजानको है।
मुस्कान मुरारिकी भूल सकैं, इतनौ हमारे नहिँ मानको है॥

(२)

जानै गुन जाने जन अरदन जादवके,
और कछु जानिवैको आइहैं कहाँ खयाल।
कहैं 'दुर्गेश' नेह-दुरग निवासिनको,
सामुहैं सँवलियाके ग्यानको कहा सवाल॥
ब्रह्म कौन बला, हम अबला न जानैं कछु,
लला जसुमतिको लिखित है हमारे भाल।
नन्दके नन्दन नित नैनन निवास करैं,
रमि रसनामैं रहे रसिक बिहारीलाल॥

—आचार्य श्री दुर्गाप्रसाद 'दुर्गेश'—

(पृष्ठ ६१ का शेषांश)

शीत-ऋतुमें शीतल वायु, हिम, ओस तथा अधिक ठंढकसे बचना चाहिए और शीघ्र-पाकी, हल्के पदार्थ, वातवर्धक तथा कटु-तिक्त-कषाय रसवाले द्रव्योंका अधिक सेवन नहीं करना चाहिए। दिनमें सोना तथा वायुका सेवन सर्वथा निषिद्ध है। इस ऋतुमें (वमन, विरेचन आदि) शोधनकार्य भी निषिद्ध हैं। क्योंकि शीतऋतुमें अधिक ठंढक होनेके कारण शरीर कष्टमय रहता है और अत्यन्त शीतल वायुसे परिपूर्ण रहता है। शरीरमें दोष अत्यन्त कठोर तथा बँधे रहते हैं। जब शोधनके लिए उष्ण स्वभाववाले औषधोंका प्रयोग किया जाता है, तो उसका भी प्रभाव, शीतसे अधिक पीडित होनेके कारण, मन्द-वीर्य हो जाता है, जिससे शोधनका अयोग हो जाता है। फलतः वह वातको प्रकुपित कर वातजन्य अनेक रोगोंको उत्पन्न करता है। अतः इस समय शोधनकार्य कभी नहीं करना चाहिए।

मनुष्य यदि इन नियमोंका पालन करता रहे, तो शीतकालीन आनन्दका अनुभव करता हुआ सुखमय एवं स्वास्थ्यप्रद जीवन व्यतीत कर सकता है।

●

With Best Compliments From :

Kanoria Chemicals & Industries Ltd.

Manufacturers of :

* CAUSTIC SODA LYE
* LIQUID CHLORINE
* HYDROCHLORIC ACID (Commercial)
* STABLE BLEACHING POWDER
* BENZENE HEXA CHLORIDE (Technical)
* QUICK & SLAKED LIME

(Chemical purity above 90%)

Head office :

9, Brabourne Road,

CALCUTTA-1

Factory :

P. O. Renukoott

Dist. Mirzapur (U. P.)

निगमामृत

(श्रीसूक्त)

गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम्।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम्॥ ९॥

गन्ध - पुष्पहार - उपहार द्वार इन्दिराका
भून पराभूत कोई कर नहीं पाता है,
पूर्ण अन्न - धनसे सदैव तुष्ट - पुष्ट रमा
पशु - वृन्द, कूट - सा करीषका सुहाता है।
ईश्वरी चराचर समस्त भूत - प्राणियोंकी
वैभव अपार पारावार - सा लखाता है,
श्री हैं वे ही राधिक हैं, सकल गुणाधिका हैं,
सेवक उन्हींको यह निकट बुलाता है॥

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि।
पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः॥ १०॥

इन्दिरे ! आपके दिव्य प्रभावसे—
मैं मनकी शुभ - कामना पाऊँ,
कल्पना चित्तकी पूर्ण हो वाकमें—
सत्यताकी अनुभूति कराऊँ।
दूध दही नवनीत – सुरूपका
लाभ सदा पशुओंके उठाऊँ,
अन्नके नाना प्रकार मिलें सदा—
सम्पदा भूरि सुकीर्ति कमाऊँ॥

सूक्ति-सुधा

बालकृष्णकी छबि

दोर्भ्यां दोर्भ्यां व्रजन्तं व्रजसदनजनाह्वानतः प्रोल्लसन्तं
मन्दं मन्दं हसन्तं मधुमधुरवचो मेति ब्रुवन्तम्।
गोपाली पाणिताली तरलितवलयध्वान - मुग्धान्तरालं
वन्दे तं देवमिन्दीवरविमल दलश्यामलं नन्दबालम्॥

हाथों - घुटनोंसे चलता है भूमिपर व्रज-
जनके बुलानेपर अति हुलसाता है,
मन्द - मन्द हसत अमंद मोदकारी मधु
मधुर वचन 'माँ'-'माँ' बोलता सुहाता है।
ताली - सी बजाती गोपियोंके जड़े कंगनोंके
शिञ्जनोंकी धुन सुन मुग्ध हुआ जाता है,
वन्दना करूँ मैं उसी देव नन्दनकी
नील कंजदल - सा सुनील जो लखाता है॥

श्रीकृष्ण जन्मस्थान-सेवा संघ मथुराके लिए देवधरशर्मा द्वारा आनन्दकानन प्रेस, ढुण्ढिराज,
वाराणसी—१ में मुद्रित एवं प्रकाशित